ओ३म्

मेरा धर्म

वैदिक धर्म के जन-कल्याणकारी विभिन्न पहलुओं का
मौलिक अध्ययन

लेखक
प्रियव्रत वेदवाचस्पति
आचार्य, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

प्रथम वार १०००

सम्वत् २०१४

मूल्य सजिल्द ७)

प्रकाशक :
प्रकाशन मन्दिर,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

गुरुकुल स्वाध्यायमंजरी का २६ वां पुष्प
सन् १९५७
[कापी रॉइट : गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय]

मुद्रक :
रामेश बेदी
गुरुकुल मुद्रणालय,
गुरुकुल कांगड़ी।

गुरुकुल स्वाध्याय-मञ्जरी का २६ वां पुष्प

श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि के सदस्यों की सेवा में—

प्रिय महोदय !

नये वर्ष के साथ गुरुकुल-स्वाध्यायमञ्जरो का यह २६ वां पुष्प आपकी सेवा में समर्पित है। वैदिक-धर्म एक ऐसा धर्म है जो मनुष्य की सब प्रकार की समस्याओं को हल करता है। "मेरा धर्म" में उसी वैदिक-धर्म के कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पहलुओं का विवेचन किया गया है। इस में वैदिक-धर्म के विभिन्न अङ्गों के सम्बन्ध में नौ निबन्ध हैं। इन निबन्धों का अध्ययन करने के पश्चात् पाठकों के सम्मुख वैदिक धर्म का एक बहुत ही उज्ज्वल और जन-कल्याणकारी चित्र उपस्थित होगा। इस चित्र को देख कर पाठक अनुभव करेंगे कि मनुष्य के वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रिय जीवन से सम्बन्ध रखने वाला कोई भी प्रश्न ऐसा नहीं है जिस का समाधान करने की शक्ति वैदिक धर्म न रखता हो। वैदिक धर्म त्रैकालिक और सार्वभौम धर्म है। उस में धरती के लोगों की भूतकाल की समस्याओं का समाधान करने की भी शक्ति रही है, वह उन की आज की समस्याओं का भी समाधान कर सकता है और भविष्य की समस्याओं का भी समाधान कर सकने की शक्ति उस में है। वह हमारे वैयक्तिक जीवन की कठिनाइयों को भी सुलझा सकता है, और सामाजिक तथा राष्ट्रिय जीवन की कठिनाइयों को भी। वह हमारी आत्मिक आवश्यकताओं को भी पूरा कर सकता है और भौतिक आवश्यकताओं को भी। उस में हमारी आत्मा की भूख को तृप्त करने का सामर्थ्य भी है और हमारे शरीर की कपड़े-लत्ते तथा रोटी की भूख को तृप्त करने का भी। वह मनुष्य का मनुष्य से क्या व्यवहार होना चाहिये यह भी बताता है, मनुष्य का प्राणीमात्र से क्या व्यवहार होना चाहिये यह भी बताता है, और मनुष्य का जगत् के स्वामी परमात्मा से क्या व्यवहार होना चाहिये यह भी बताता है। पूर्ण रूप से अपनाया हुआ और आचरण में ढाला हुआ वैदिक धर्म हमारी इस धरती को स्वर्ग बना सकता है और हम सब को स्वर्ग में रहने वाले देवता। ऐसा है हमारा महान् वैदिक धर्म ! वैदिक धर्म के इस स्वरूप की झांकी लेने के लिये "मेरा धर्म" का पारायण कीजिये।

वैदिक धर्म के इस उज्ज्वल, उदात्त और मानव-कल्याणकारी स्वरूप की झांकी लेने में "मेरा धर्म" पाठकों की यदि कुछ भी सहायता कर सका तो मैं गुरुकुल की इस भेंट को सार्थक समझूंगा।

प्रियव्रत वेदवाचस्पति
आचार्य
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय।

वैशाख २०१४

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
प्रारम्भिक परिचय	तीन
विषय-सूची	पांच–सोलह
भूमिका	**सत्रह–चौबीस**
मेरा धर्म	१–३५०
वैदिक धर्म में स्त्रियों की स्थिति	**३–२८**
स्त्रियों की आज की शोचनीय अवस्था	३
स्त्रियों की स्थिति और ऋषि दयानन्द	६
वैदिक धर्म में स्त्रियों की स्थिति	६
तीन कसौटियें	६
वेद और स्त्री-शिक्षा	७
वेद और स्त्रियों का विवाहित जीवन	९
विवाह की आयु	१०
पति-पत्नी एक-दूसरे को स्वयं चुनते हैं	१२
चुनाव में माता-पिता का सहयोग	१३
पति के घर में पत्नी की स्थिति	१३
एक-पति और एक-पत्नी व्रत	१५
तलाक नहीं हो सकता	१५
पुनर्विवाह	१८
पति की सम्पत्ति में पत्नी का अधिकार	१९
पिता की सम्पत्ति में पुत्री का अधिकार	२१
वेद और स्त्रियों की सामाजिक स्थिति	२२
परदा नहीं है	२२
स्त्रियें राजा और अन्य राज्याधिकारी भी बन सकती हैं	२३
वैदिक नारी की सामाजिक आकांक्षा	२४
स्त्रियों का एक महान् कर्तव्य	२५
वेद और गो-पालन	**२९–५१**
वैदिक गृहस्थ के जीवन में गौ का स्थान	२९
गौओं के लिये राष्ट्रिय प्रार्थना	३१

विषय	पृष्ठ

राज्य और गो-पालन तथा गोपालन के सम्बन्ध में वेद के निर्देश ३२
गौ का दूध-दही सोम है ३६
गौओं की हत्या नहीं की जा सकती ४२
गो-पालन-विषयक कुछ अन्य निर्देश ४७
गौओं को कैसे सांड से मिलाया जाये ? ४८
यज्ञों में गो-हिंसा वेद-विरुद्ध है ४९

वैदिक समाज-व्यवस्था ५२–१२६
आज के समाज की भीषण आर्थिक विषमता ५२
आज की समाज-व्यवस्था मनुष्य के आत्मा का पतन करती है ५४
आज धन की बेहद पूजा होती है ५५
आज के प्रजातन्त्रों में भी धन का ही बोल-बाला है ५६
शासकों का उद्देश्य भी धन कमाना ही रहता है ५६
धन-लिप्सु राष्ट्र अन्य राष्ट्रों पर घोर अत्याचार करते हैं ५७
भीषण युद्धों का मूल-कारण धन-लिप्सा ५८
सीमातीत धन-लिप्सा के घोर दुष्परिणाम ६०
आज की समाज-व्यवस्था पूंजीवादी है ६१
पूंजीवादी समाज-व्यवस्था को बदलना होगा ६१
साम्यवाद (कम्युनिज्म) ६१
वर्णाश्रम-व्यवस्था ६२
कोई भूखा नहीं मरना चाहिये ६२
पांच आलम्बन-पदार्थ ६२
अनुबन्ध-पदार्थ ६३
पूंजीवाद लोभ और संचय-शीलता पर आधारित है ६४
वर्णाश्रम-व्यवस्था में धन का सर्वोपरि महत्त्व नहीं है ६४
वर्णाश्रम-व्यवस्था त्याग के जीवन पर बल देती है ६५
वर्णाश्रम-व्यवस्था दान पर बल देती है ६६
वर्णाश्रम-व्यवस्था सम्पत्ति को बांट कर भोगने पर बल देती है ६७
पांच यम और पांच नियम ६८
अपरिग्रह ७०
चार वर्ण और चार आश्रम ७२

विषय	पृष्ठ
वर्णों का चुनाव	७५
व्रत-ग्रहण-पूर्वक विद्याध्ययन	७६
मनुष्य-समाज के तीन शत्रु : अभाव, अज्ञान और अन्याय	७७
ब्राह्मणों का व्रत	७८
क्षत्रियों का व्रत	७९
वैश्यों का व्रत	८०
सब वर्णों वाले अपने को राष्ट्र का न्यासरक्षक (ट्रस्टी) समझते हैं	८२
शिक्षा के क्षेत्र में वर्णाश्रम-व्यवस्था का अनूठा सिद्धान्त	८२
वर्णों का शक्ति-सन्तुलन	८२
दुरुपयोग करने पर सम्पत्ति छीनी भी जा सकती है	८४
सम्पत्ति का अधिकार जन्म से नहीं, सदुपयोग से	८५
सन्तानों का परिवर्तन	८६
केवल श्रम से भी सम्पत्ति का अधिकार नहीं	८८
सम्पत्ति का व्यक्तिगत स्वामित्व	८९
सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व पर प्रतिबन्ध	९०
वर्णाश्रम-व्यवस्था के आध्यात्मिक प्रतिबन्ध	९०
साम्यवाद के भौतिक प्रतिबन्ध	९१
साम्यवाद सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व को स्वीकार नहीं करता	९२
व्यक्तिगत स्वामित्व के आधार में मनोवैज्ञानिक तथ्य : अहंकार और ममत्व	९३
वर्णाश्रम-व्यवस्था सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व को स्वीकार करती है	९४
व्यक्तिगत स्वामित्व के दोषों का प्रतीकार	९५
साम्यवाद मनोवैज्ञानिक तथ्य की उपेक्षा करता है	९६
साम्यवाद का आदर्श रूस में भी ढीला हो गया है	९६
प्रतिस्पर्धा का तत्त्व	९९
व्यक्तियों में योग्यता और रुचियों का भेद	१००
यथायोग्य दक्षिणा	१०२
पूर्ण साम्य मनुष्य-स्वभाव के विपरीत है	१०३
शिक्षा में अवसर की पूर्ण समानता	१०४
शिक्षा में वानप्रस्थाश्रम का महत्त्व	१०५
गृहस्थ ब्राह्मण शिक्षक और उन की जीविका	१०५

विषय	पृष्ठ
आज की व्यवस्था में शिक्षा मंहगी होने के दुष्परिणाम	१०६
वर्णाश्रम-व्यवस्था में शिक्षा सर्वथा निःशुल्क होगी	१०६
साम्यवाद का आधार भौतिकतावाद है	१०७
साम्यवाद के भौतिक साधन और उन का घोर दुष्परिणाम	१०८
साम्यवाद का भौतिकतावादी दर्शन ऊंचे चारित्रिक गुणों का विरोधी है	१११
वर्णाश्रम-व्यवस्था का आध्यात्मिक आधार	१११
वर्णाश्रम-व्यवस्था के आध्यात्मिक साधन और उन का सुपरिणाम	११२
जीवन का अन्तिम लक्ष्य : ब्रह्मानन्द की प्राप्ति	११३
समाज-व्यवस्था के तीन पहलू	११६
वैदिक राज्य-व्यवस्था	११६
राज्य वर्णों और आश्रमों के धर्मों का पालन करायेगा	११९
वर्णाश्रम-व्यवस्था की प्रजातन्त्रीय शासन-पद्धति	११९
साम्यवाद प्रजातन्त्र का विरोधी है	१२०
पूंजीवादी पद्धति का किसी भी तन्त्र के साथ आवश्यक सम्बन्ध नहीं है	१२०
वर्णाश्रम-व्यवस्था की श्रेष्ठता	१२०
वर्णाश्रम-व्यवस्था का वैज्ञानिक आधार : सत्व, रज और तम	१२१
वर्णाश्रम-व्यवस्था और विदेशी विद्वान्	१२२
वर्णाश्रम-व्यवस्था : संसार को भारत का अनूठा उपहार	१२४
वर्णाश्रम-व्यवस्था के लिये किसी राष्ट्र का हिन्दू होना आवश्यक नहीं है	१२५
वैदिक धर्म और राष्ट्रोन्नति	**१२७–१७२**
रूस में जार के अत्याचार	१२७
जार और ईसाई धर्म-गुरुओं का गठ-जोड़ा	१२७
कम्युनिस्ट रूस में धर्म का विरोध	१२८
कम्युनिस्ट विचारों की लोकप्रियता का कारण	१२८
कम्युनिज़्म के धर्म-विरोधी विचार भारत में भी फैले	१२९
भारत में हिन्दु-मुसलमानों के झगड़े	१२९
इन झगड़ों से धर्म-मात्र को ही बुरा समझा जाने लगता है	१३०
धर्म का विरोध और मन की एकाङ्गी प्रवृत्ति	१३१
क्या धर्म राष्ट्र की उन्नति में बाधक है ?	१३२
धर्म शब्द का विस्तृत अर्थ	१३२

विषय	पृष्ठ
धर्म का सीमित अर्थ	१३३
वैदिक धर्म में धर्म का वास्तविक अभिप्राय	१३३
धर्मशास्त्र किन ग्रन्थों को कहते हैं ?	१३४
व्यापक अर्थ में धर्म राष्ट्रोन्नति में बाधक नहीं है	१३५
सीमित अर्थ में भी धर्म राष्ट्रोन्नति में बाधक नहीं है	१३५
परमात्मा में विश्वास धर्म का आवश्यक अङ्ग है	१३५
परमात्मा की सत्ता में प्रमाण	१३५
परमात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव	१३८
राष्ट्रोन्नति के लिये आवश्यक गुण	१४४
धर्म राष्ट्रोन्नति के लिये आवश्यक गुणों को उत्पन्न करता है	१४५
परमात्मा के गुणों का चिन्तन और उस का प्रभाव	१४५
राष्ट्रोन्नति में धर्म की स्पष्ट कारणता	१४६
प्रभु के गुणों से विपरीत आचरण वाला व्यक्ति धार्मिक नहीं है	१४६
युद्ध और उस के लाभ	१५१
धर्म युद्ध का प्रतियोगी है	१५१
धर्म के बिना सच्चारित्र्य खड़ा नहीं रह सकता	१५२
धर्म सब सद्गुणों का स्रोत है	१५८
धर्म लड़ना नहीं सिखाता	१५८
धर्म वालों को भी सावधान होना चाहिये	१५८
वैदिक धर्म और राष्ट्रोन्नति	१५६
राष्ट्रोन्नति का अर्थ	१५६
वैदिक धर्म में राष्ट्रोन्नति-सम्बन्धी उपदेश	१६०
राष्ट्रोन्नति और वैदिक धर्म का कर्म-काण्ड	१६३
राष्ट्रोन्नति और पंच-महायज्ञ	१६३
राष्ट्रोन्नति और आश्रम-व्यवस्था	१६५
राष्ट्रोन्नति और वर्ण-व्यवस्था	१६७
वैदिक धर्म और अन्य धर्मावलम्बी	१७०
आज के नव-शिक्षितों से एक निवेदन	१७१
वैदिक धर्म और उपासना	**१७३–२०६**
धर्म का स्वरूप : ईश्वर-विश्वास और उस का जीवन पर प्रभाव	१७३
ईश्वर-विश्वास से जीवन को प्रभावित करने का उपाय : उपासना	१७३

विषय	पृष्ठ
उपासना का प्रचलित स्वरूप	१७४
हम ने भगवान् को अपने जैसा बना लिया है	१७४
हम ने उपासना को व्यापार की वस्तु बना रखा है	१७५
भगवान् अपनी प्रशंसा के भूखे नहीं हैं	१७६
हमें अपने किये का फल अवश्य भोगना पड़ता है	१७६
मनुष्य-जाति के इतिहास की साक्षी	१७८
परमात्मा की उलझन	१७९
उपासना का सही प्रयोजन : प्रभु की संगति	१८०
संगति का प्रभाव	१८०
हम सब में अच्छा बनने की इच्छा रहती है	१८१
हमें संसार में पूर्ण श्रेष्ठ संगति नहीं मिल सकती	१८१
साधारणतया हमें बुरी संगति ही मिलती है	१८२
उपासना द्वारा प्रभु की पूर्ण श्रेष्ठ संगति प्राप्त होती है	१८२
प्रभु-भक्ति का अर्थ : प्रेम में भर कर प्रभु के गुण गाना	१८३
प्रेम का स्वरूप	१८४
प्रभु-भक्ति के प्रेम का उपासक पर प्रभाव	१८६
प्रभु-भक्ति उपासक को प्रभु जैसा पवित्र बना देती है	१८८
पवित्र जीवन का परिणाम सुख ही सुख	१८८
सच्ची उपासना में सौदेबाजी नहीं है	१८८
उपासना से उपासक के कष्ट किस प्रकार कटते हैं	१८९
असल में उपासना पाप को काटती है	१८९
प्रभु के गुणों को धारण नहीं किया गया तो उपासना का कोई लाभ नहीं	१९०
सूर्य का दृष्टान्त	१९०
प्रभु उपासक को शक्ति प्रदान करते हैं	१९२
उपासना के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द का मन्तव्य	१९३
उपासना और योग-दर्शन	१९३
उपासना और महात्मा गान्धी	१९४
उपासना से लाभ लेने की विधि	१९९
बच्चा जिस निष्ठा से चलने का अभ्यास करता है उसी निष्ठा से धर्म पर चलने का अभ्यास कीजिए	२००
चरित्र की दैनिक पड़ताल	२०१

विषय	पृष्ठ
उपासना के पांच लाभ	२०३
वैदिक धर्म और मांस-भक्षण	**२०७–२५२**
वैदिक धर्म में मांस-भक्षण निषिद्ध है	२०७
वैदिक धर्म अहिंसा का धर्म है	२०७
अहिंसा सभी वर्णों और सभी आश्रमों का धर्म है	२११
अहिंसा के दो रूप	२१२
पूर्ण अहिंसा	२१२
अहिंसा का सिद्धान्त वैदिक-धर्म का अपना सिद्धान्त है	२१२
अहिंसा डरपोक नहीं बनाती	२१४
अहिंसा और क्षात्र-धर्म	२१४
मांस-भक्षण के लिये की जाने वाली हिंसा सब से बड़ा पाप है	२१७
हिंसा सब से बड़ा पाप क्यों है ?	२१७
मनुष्य को पशु-पक्षियों को मारने का अधिकार नहीं है	२१९
वेद-शास्त्र मांस-भक्षण का निषेध करते हैं	२२१
मांस-भक्षण के विरोध में युक्तियां	२२३
मनुष्य वनस्पति खाने वाले पशुओं की श्रेणी का प्राणी है	२२३
मांस मनुष्य का स्वाभाविक भोजन नहीं है	२२६
पोषण की दृष्टि से मांस अच्छा भोजन नहीं है	२२७
विटामिनों की दृष्टि से भी मांस उत्तम भोजन नहीं है	२२८
विटामिनों का मूल-स्रोत वनस्पतियां ही हैं	२२८
मनुष्य का मांस क्यों नहीं खाते ?	२२९
मांस प्राणियों पर भीषण क्रूरता से प्राप्त होता है	२२९
मांस का भोजन विषैला और रोगजनक होता है	२३०
मांसाहार से बल नहीं आता	२३२
मांसाहार से वीरता भी नहीं आती	२३३
मांस का भोजन मनुष्य को क्रूर और निर्दय बनाता है	२३५
मांस का भोजन तामसिक वृत्तियों को जगाता है	२३५
मांस-भक्षण विश्व-शान्ति की विरोधी भावनाएं पैदा करता है	२३६
मांस-भक्षण सभी धर्मों की भावना के विपरीत है	२३८
मांस-भक्षण सभी दृष्टियों से त्याज्य है	२३९
औषध के रूप में भी मांस नहीं खाना चाहिये	२३९

विषय	पृष्ठ
ध्रुव-प्रदेशों के लोगों को भी मांस खाने की ग्रावश्यकता नहीं है	२४१
भेड़-बकरी ग्रादि के न खाने से उन से धरती नहीं भर जायगी	२४१
दूध पीने में हिंसा नहीं होती	२४२
ग्रण्डे भी नहीं खाने चाहियें	२४३
फल ग्रौर सब्जी खाने में हिंसा नहीं होती	२४५
वनस्पतियों को सुख-दुःख की ग्रनुभूति नहीं होती	२४६
परिशिष्ट	२४७
भोज्य पदार्थों के पोषक तत्त्वों की तुलनात्मक तालिका	२४८
वैदिक धर्म ग्रौर ब्रह्मचर्य तथा पश्चिमी डाक्टर	**२५३–२६०**
ग्रार्य-संस्कृति में ब्रह्मचर्य का महत्त्व	२५३
ब्रह्मचर्य शब्द का व्यापक ग्रर्थ	२५४
वीर्य की उत्पत्ति ग्रौर उस का कार्य	२५५
वीर्यनाश के दुष्परिणाम	२५६
जीवन-प्रदीप का तेल	२५७
विषयासक्ति से होने वाली हानियें	२५७
थोड़ा-सा भी वीर्यनाश हानिकारक ही है	२५९
वीर्यनाश करने वाला व्यक्ति मूर्ख व्यापारी जैसा है	२६०
वीर्य की रचना-शक्ति	२६२
सन्तानोत्पत्ति के लिये ही वीर्य शरीर से बाहर होना चाहिये	२६३
ब्रह्मचर्य-साधन के उपाय	२६४
वेद के ब्रह्मचर्य-सूक्त में वर्णित चार उपाय	२६४
ब्रह्मचर्य-साधन के मानसिक उपाय	२६६
ब्रह्मचर्य-साधन के भौतिक उपाय	२७१
विद्यार्थी-जीवन ग्रौर ब्रह्मचर्य	२७५
विद्यार्थी-जीवन में ब्रह्मचर्य का महत्त्व	२७६
प्राचीन भारत में विद्यार्थियों का जीवन	२७७
ग्राज के विद्यार्थी-जीवन की ब्रह्मचर्य-विहीनता	२७८
हमें ब्रह्मचर्याश्रम की प्राचीन मर्यादा फिर ग्रपनानी होगी	२७९
ब्रह्मचर्य ग्रौर पश्चिमी डाक्टर	२८१
वैदिक धर्म और ग्रन्य धर्मावलम्बी	**२९१–३१८**
ग्रन्य धर्मावलम्बियों के प्रति वैदिक धर्म की दृष्टि	२९१

विषय	पृष्ठ
वैदिक धर्म में जीवन का लक्ष्य : ब्रह्म-साक्षात्कार	२९१
आत्मा पर प्रकृति का बन्धन	२९३
प्रकृति के बन्धन से छूटने का उपाय.	२९४
सांसारिक उन्नति और ब्रह्म-प्राप्ति का विरोध नहीं है	२९६
धर्म का लक्षण : अभ्युदय और निःश्रेयस का समन्वय	२९८
वैदिक धर्मियों द्वारा अन्य धर्मों की समालोचना	२९९
धर्म के स्वरूप को समझने के लिये बुद्धि का प्रयोग आवश्यक है	२९९
वैदिक धर्म का सत्य पर आग्रह	३००
ऋषि दयानन्द का सत्य पर आग्रह	३०२
सत्य का ज्ञान और प्रकाश मनुष्य का महत्त्वपूर्ण अधिकार है	३०२
सत्य का परिज्ञान समालोचना से ही होता है	३०२
धर्म का सच्चा स्वरूप भी समालोचना से ही जाना जायगा	३०३
वैदिक-धर्मी तर्क को ऋषि मानते हैं	३०४
सहिष्णुता और उदार-हृदयता किसे कहते हैं	३०५
वैदिक-धर्मियों की समालोचना का अन्य धर्मों पर प्रभाव	३०५
समालोचना, समालोच्य और समालोचक दोनों का लाभ करती है	३०६
समालोचना बुरे अभिप्राय से नहीं होनी चाहिये	३०६
विभिन्न धर्मों की समालोचना में ऋषि दयानन्द का उद्देश्य	३०६
धर्म-तत्त्व की समालोचना मनुष्य का मौलिक अधिकार है	३०७
वैदिक-धर्मी आज के प्रचलित धर्मों को सर्वांश में सत्य नहीं मानते	३०८
एक हेत्वाभास	३०८
प्रभु-दर्शन के साधन सर्वत्र एक समान होने चाहियें	३०९
सही धर्म सब के लिये एक ही हो सकता है	३१०
धर्मों के सत्यांश के साथ उन का असत्यांश भी परखना होगा	३१०
समालोचना सार्वभौम धर्म की ओर ले जाती है	३११
वैदिक-धर्म धर्म-प्रचार में बल-प्रयोग का समर्थक नहीं है	३११
वैदिक-धर्म चरित्र की शुद्धता पर बल देता है, कोरे विश्वास पर नहीं	३१३
चरित्र-हीन वैदिकधर्मी से चरित्रवान् विधर्मी श्रेष्ठ है	३१५
वैदिक-धर्म विधर्मियों के साथ भी भलाई करने का उपदेश देता है	३१६

विषय	पृष्ठ
वेद और इलहाम	**३१९–३५०**
आर्य लोग वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं	३१९
वेद में सब प्रकार का मनुष्योपयोगी ज्ञान भरा है	३२०
वेद का ज्ञान परमेश्वर ने सृष्टि के आदि में दिया था	३२०
क्या ईश्वरीय ज्ञान का सिद्धान्त मिथ्या है ?	३२१
ईश्वरीय ज्ञान का सिद्धान्त तर्क-संगत है	३२१
सन्तों और योगी-महात्माओं की साक्षी	३२१
भाषा की उत्पत्ति की साक्षी	३२२
भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विकासवाद का सिद्धान्त मिथ्या है	३२४
आदि-सृष्टि में परमेश्वर ने भाषा सिखाई	३२५
भाषा सिखाने में ज्ञान का सिखाना स्वयं ही आ जाता है	३२५
भाषा-शास्त्रियों के पास भाषा की उत्पत्ति का समाधान नहीं है	३२५
भाषा और ज्ञान देने वाले आदि-गुरु परमात्मा ही हैं	३२७
आदि-सृष्टि में परमात्मा ने वैदिक भाषा सिखाई	३२८
वैदिक भाषा सब भाषाओं की जननी है	३२९
वेद संसार के सब से पुराने ग्रन्थ हैं	३३०
वेद की भाषा संसार की सब से पुरानी भाषा है	३३२
वेद का काल	३३२
ईश्वरीय ज्ञान होने में वेद की अपनी अन्तःसाक्षी	३३३
परमात्मा का वेदोपदेश करने का प्रकार	३३६
ईश्वरीय ज्ञान की कसौटी	३३९
ईश्वरीय ज्ञान सृष्टि के आरम्भ में आना चाहिये	३३९
ईश्वरीय ज्ञान के ग्रन्थ में किसी देश का भूगोल और इतिहास नहीं होना चाहिये	३४०
ईश्वरीय ज्ञान किसी देश-विशेष की भाषा में नहीं आना चाहिये	३४१
ईश्वरीय ज्ञान को बार-बार बदलने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये	३४१
ईश्वरीय ज्ञान सृष्टि-क्रम के विपरीत नहीं होना चाहिये	३४२
ईश्वरीय ज्ञान में विविध विद्या-विज्ञानों का वर्णन होना चाहिये	३४३
ईश्वरीय ज्ञान ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव के अनुकूल होना चाहिये	३४४

विषय	पृष्ठ
सन्तों और योगी-महात्माओं को भी कसौटी पर कसना होगा	३४४
सन्तों की और वेद की बात में विरोध नहीं होना चाहिये	३४५
ईश्वरीय ज्ञान का सिद्धान्त कलह का कारण नहीं है	३४६
वेद प्राणी-मात्र से प्रेम करना सिखाता है	३४८
इलहामों की अनेकता में एकता	३४९
मन्त्रानुक्रमणिका	**३५१–३५४**
श्लोकादि-अनुक्रमणिका	**३५४–३५५**

भूमिका

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के आचार्य-पद का कार्यभार संभालने से पहले हमारा कार्य-क्षेत्र पंजाब था। उस समय तक देश का विभाजन नहीं हुआ था। उन दिनों पंजाब में हमारा कार्य आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब, के तत्त्वावधान में वैदिक-धर्म और संस्कृति के प्रचार का था। इस प्रयोजन की पूर्ति के लिये आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से "आर्य" नाम की एक मासिक पत्रिका प्रकाशित हुआ करती थी। इसी प्रयोजन के लिये सभा ने दयानन्द-उपदेशक-विद्यालय नाम की सुप्रसिद्ध संस्था चला रखी थी जिस में वैदिक-धर्म के प्रचारार्थ उपदेशक (मिशनरी) तैयार किये जाते थे। और इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिये सभा ने वेद-प्रचार नाम से एक बड़ा भारी संगठन चला रखा था जिस के द्वारा पंजाब-भर के नगरों में प्रचार और उत्सवों की व्यवस्था करा के वैदिक-धर्म के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर विद्वान् उपदेशकों के व्याख्यान कराये जाते थे। उन दिनों आर्य प्रतिनिधि सभा का मुख्य कार्यालय लाहौर में गुरुदत्त-भवन नामक स्थान में था। वहीं से "आर्य" पत्र निकलता था और वहीं दयानन्द-उपदेशक-विद्यालय स्थापित था। सभा ने हमें "आर्य" पत्र के सम्पादन का कार्य दे रखा था। आठ-दस वर्ष तक हम इस पत्र के सम्पादक रहे और उस के द्वारा वैदिक-धर्म और संस्कृति के प्रचार का कार्य करते रहे। तदनन्तर सभा ने हमें दयानन्द-उपदेशक-विद्यालय के संचालन का काम सौंप दिया और हम उस के आचार्य के रूप में आठ-दस वर्ष कार्य करते रहे। उपदेशक-विद्यालय में हमें अपने छात्रों को वैदिक-साहित्य का अध्यापन कराना होता था और वैदिक-धर्म तथा संस्कृति के भिन्न-भिन्न पहलुओं को उन के आगे उपस्थित करना होता था। "आर्य" का सम्पादन और उपदेशक-विद्यालय के आचार्य का कार्य करते हुये हम वैदिक-धर्म के प्रचार के निमित्त पंजाब की आर्यसमाजों के उत्सवों में भी निरन्तर सम्मिलित होते रहते थे। इन उत्सवों में भी हमें वैदिक-धर्म और संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर व्याख्यान देने होते थे। इन सब कार्यों के प्रसंग में हमें वैदिक-साहित्य के स्वाध्याय और वैदिक-धर्म तथा संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर चिन्तन करने का पर्याप्त अवसर मिलता था।

उन दिनों पंजाब की आर्यसमाजों के उत्सवों में एक बड़ी सुन्दर परिपाटी प्रारम्भ हुई थी। सभाओं के उत्सवों में "सर्व-धर्म-सम्मेलन" नाम

से एक सम्मेलन हुआ करता था। इन सम्मेलनों के द्वारा विभिन्न धर्मों के लोगों को एकत्र करने का प्रयत्न किया जाता था। सम्मेलन में कोई एक विचारणीय विषय रख दिया जाता था। विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों को बुला कर उस विचारणीय विषय पर उन के धर्मों के दृष्टिकोण से अपने विचार उपस्थित करने को कहा जाता था। इस प्रकार इन सर्व-धर्म-सम्मेलनों के द्वारा धर्म के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर विविध धर्मों के प्रतिनिधियों के विचार जनता के सामने लाये जाते थे और उसे यह देखने का अवसर दिया जाता था कि विचारणीय विषय पर विविध धर्मों के विचार कहां तक मिलते हैं और कहां तक नहीं। ऋषि दयानन्द ने सन् १८७६ के दिसम्बर मास में लार्ड लिटन के दरबार के समय दिल्ली में जो विभिन्न धर्मों के नेताओं की एक एकता-सभा बुलाई थी। उसी से प्रेरणा ले कर आर्यसमाजों के उत्सवों में सर्व-धर्म-सम्मेलन आयोजित करने की यह परिपाटी प्रारम्भ हुई थी। इस से विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों को प्रेम और सहानुभूति के वातावरण में एक-दूसरे से मिलने का और एक-दूसरे के विचार सुनने का अवसर मिलता था। यह आशा की जाती थी कि इन अवसरों पर भिन्न-भिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों का परस्पर मिलना और एक-दूसरे के विचारों को सुनना शनैः-शनैः धर्मों के विरोध-भाव को कम करने और कालान्तर में धर्मों को एक-दूसरे के निकट लाने का कारण बनेगा। ऋषि दयानन्द "वाद और लेख द्वारा" उन बातों को पता लगाने और उन की ओर सब का ध्यान आकृष्ट करने पर बड़ा बल दिया करते थे जिन बातों को सभी धर्मों वाले सत्य और मनुष्यों के लिये उपयोगी मानते हैं। ऐसी सार्वभौम बातों पर बल देते रहने से शायद कोई दिन ऐसा आ जाये जब कि सारी मनुष्य-जाति का धर्म एक हो जायेगा। ऋषि दयानन्द का ऐसा आशय था। और ऋषि का विचार था कि वह सार्वभौम-धर्म वैदिक-धर्म ही होगा। कुछ इसी प्रकार के विचार से आर्यसमाजों के उत्सवों में यह सर्व-धर्म-सम्मेलन करने की पद्धति चली थी। दौर्भाग्य से यह परिपाटी कुछ समय तक ही चली। फिर बन्द हो गई। यह अनुभव किया जाने लगा कि बहुत वार अन्य धर्मों के प्रतिनिधि इन सम्मेलनों में आ कर अपने धर्म-ग्रन्थों का दृष्टिकोण उपस्थित न कर के ऐसी बातें कहने लग जाते हैं जो उन के धर्म-ग्रन्थों में बिलकुल नहीं पाई जातीं, वे ऐसी बातें कहने लग जाते हैं जो उन के धर्मों में न पाई जा कर वैदिक-धर्म में पाई जाती हैं, और उन्हें वे अपने धर्म-ग्रन्थों के नाम से कहते हैं। उन की इस मिथ्या-उक्ति का प्रयोजन जनता में अपने धर्म और धर्म-ग्रन्थों की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता को बढ़ाना होता था। सही-सही बात कहना उन

का प्रयोजन नहीं होता था। शुरू-शुरू में ये सर्व-धर्म-सम्मेलन बड़े मनोरंजक और शिक्षाप्रद होते थे। पर बाद में उपर्युक्त कारण से सर्व-धर्म-सम्मेलनों की यह परिपाटी प्रायः बन्द हो गई।

उन दिनों लाहौर (वच्छोवाली) आर्यसमाज का वार्षिक उत्सव पंजाब-भर की आर्यसमाजों के वार्षिकोत्सवों में एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। लाहौर आर्यसमाज का वार्षिक उत्सव सारे पंजाब का उत्सव समझा जाता था और इस ने पंजाब-भर के आर्यों के वार्षिक मेले का रूप धारण कर रखा था। इस उत्सव को देखने के लिये पंजाब के प्रायः सभी नगरों के आर्य-पुरुष आया करते थे। इस उत्सव में व्याख्यान देने के लिये भारत-भर के बड़े-बड़े आर्य-विद्वानों को बुलाया जाता था। लाहौर आर्यसमाज के इस उत्सव में भी प्रायः प्रति वर्ष सर्व-धर्म-सम्मेलन की आयोजना रहती थी। कई बार वैदिक-धर्म के प्रतिनिधि के रूप में इन सम्मेलनों में हमें भी बोलना पड़ा था। सम्मेलनों में भाग लेने वाले विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों से यह आशा की जाती थी कि वे जो भाषण देंगे उसे लिख कर भी लायेंगे। "मेरा धर्म" में जो निबन्ध छप रहे हैं वे सब समय-समय पर इन सर्व-धर्म-सम्मेलनों में पढ़े गये थे, या इन के आधार पर इन सम्मेलनों में भाषण दिये गये थे। इन सम्मेलनों के आयोजकों का विचार था कि सम्मेलनों में दिये गये भाषणों को पुस्तकाकार में भी प्रकाशित कर दिया जायेगा। पर उन का यह विचार क्रिया में परिणत न हो सका। इस कारण हमारे ये भाषण भी प्रकाशित न हो सके थे। फिर देश के विभाजन के पश्चात् तो पंजाब में आर्यसमाज का सारा कार्य ही विशृंखलित-सा हो गया। फलतः अब तक हमारे ये भाषण अप्रकाशित ही पड़े रहे। अब गुरुकुल-स्वाध्याय-मञ्जरी में इन भाषणों को "मेरा धर्म" के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है।

"मेरा धर्म" में नौ निबन्ध प्रकाशित हो रहे हैं। इन में से प्रथम निबन्ध "वैदिक धर्म में स्त्रियों की स्थिति" वैशाख सं० १९८८ (अप्रैल १९३१) में गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के वार्षिक उत्सव के अवसर पर आयोजित सर्व-धर्म-सम्मेलन में पढ़ा गया था। इस सम्मेलन का विषय था "मेरे धर्म में स्त्रियों की स्थिति", जिस पर विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों ने अपने-अपने धर्म के दृष्टिकोण से भाषण दिये थे। क्योंकि हम वैदिक-धर्म का प्रतिनिधित्व कर रहे थे इस लिये हम ने अपने भाषण और निबन्ध का शीर्षक रखा था—"वैदिक-धर्म में स्त्रियों की स्थिति" उस के पश्चात् शेष सब निबन्ध वे हैं जो समय-समय पर लाहौर आर्यसमाज के वार्षिक उत्सवों के अवसर पर आयोजित

सर्व-धर्म-सम्मेलनों में पढ़े गये थे, या उन के आधार पर भाषण दिये गये थे। इन सम्मेलनों के विषय, जिन पर विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों ने अपने-अपने धर्म के दृष्टिकोण से विचार किया था, क्रम से इस प्रकार थे—"मेरा धर्म और गो-पालन", "मेरे धर्म में वर्णित समाज-व्यवस्था," "क्या धर्म राष्ट्रिय उन्नति में बाधक है ?", "मेरे धर्म में उपासना का प्रयोजन," "मेरा धर्म और मांस-भक्षण," "मेरा धर्म और ब्रह्मचर्य," "मेरे धर्म का अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति दृष्टिकोण," तथा "मेरा धर्म-ग्रन्थ और इलहाम"। तदनुसार हमने अपने निबन्धों और भाषणों के शीर्षक क्रम से ये रखे थे—"वेद और गोपालन", "वैदिक समाज-व्यवस्था", "वैदिक धर्म और राष्ट्रोन्नति", "वैदिक धर्म और उपासना", "वैदिक धर्म और मांस-भक्षण", "वैदिक धर्म और ब्रह्मचर्य", "वैदिक धर्म और अन्य धर्मावलम्बी", तथा, "वेद और इलहाम"। प्रस्तुत संग्रह "मेरा धर्म" में ये ही नौ निबन्ध प्रकाशित हो रहे हैं। इस संग्रह में हमने "वैदिक धर्म और ब्रह्मचर्य" निबन्ध का शीर्षक "वैदिक-धर्म और ब्रह्मचर्य तथा पश्चिमी डाक्टर" रख दिया है, क्योंकि इस निबन्ध के अन्तिम खण्ड में हमने ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में कुछ प्रसिद्ध पश्चिमी डाक्टरों की सम्मतियें उद्धृत की हैं। इस शीर्षक के कारण आज के अंग्रेजी शिक्षित लोगों का ध्यान इस निबन्ध की ओर अधिक आकृष्ट होगा। ये सब भाषण सन् १९३१ से १९४२ तक के वर्षों में दिये गये थे।

क्योंकि सम्मेलनों के ऊपर निर्दिष्ट विषयों पर हमने अपने वैदिक-धर्म के दृष्टिकोण से भाषण दिये थे इस लिये इन भाषणों के अपने इस संग्रह का शीर्षक हम ने "मेरा धर्म" रख दिया है। इस संग्रह का नाम "मेरा धर्म" रखने का एक और भी कारण है। हम वैदिक धर्म के अनुयायी हैं। वैदिक साहित्य के अवगाहन और चिन्तन से वैदिक धर्म का जो उदात्त और जन-कल्याणकारी चित्र हमारे सामने आया है उस के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण अंगों का प्रतिपादन इस संग्रह के निबन्धों में हो गया है। यदि एक शब्द में कहना हो तो वैदिक धर्म को वर्णाश्रम का धर्म कहा जा सकता है। वर्णाश्रम-धर्म वैदिक-धर्म का निचोड़ है। "वैदिक समाज-व्यवस्था" तथा "वैदिक धर्म और राष्ट्रोन्नति" इन दो निबन्धों मे वर्णाश्रम-धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन पर्याप्त विस्तार से किया गया है। "वैदिक समाज-व्यवस्था" निबन्ध तो है ही सारा वर्णाश्रम-धर्म के सम्बन्ध में। इन निबन्धों में चारों वर्णों और चारों आश्रमों के स्वरूप और उन की समाज के लिये उपयोगिता पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। वर्णाश्रम-धर्म के अनेक पहलुओं पर विचार करते हुए यह दिखाया गया है कि

समाज की वर्णाश्रम-धर्म के आधार पर की जाने वाली व्यवस्था पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ व्यवस्था है। प्रसंग से इन निबन्धों में वैदिक-राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी संक्षिप्त निर्देश हो गया है। ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन करते हुए वैदिक-शिक्षा-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी बहुत-कुछ कह दिया गया है। वैदिक धर्म में शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान इन पांच नियमों, तथा, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच यमों को व्यक्ति के चरित्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग समझा जाता है। इन यम और नियमों को वैदिक धर्म में आर्य-चरित्र का लक्षण माना जाता है। इन दोनों निबन्धों में इन यम और नियमों की भी संक्षिप्त परन्तु मार्मिक व्याख्या की गई है। "वैदिक धर्म और मांस-भक्षण" निबन्ध में तो अहिंसा के सिद्धान्त पर बहुत विस्तार से विचार किया गया है और कई मौलिक बातें कही गई हैं। इसी प्रकार "वैदिक धर्म और ब्रह्मचर्य तथा पश्चिमी डाक्टर" निबन्ध में ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया गया है और वहां भी कितनी ही मौलिक बातें कही गई हैं। मनुष्य के जीवन को पवित्र और कर्तव्य-परायण बनाने के लिये वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड में विधान किया गया है कि मनुष्य को प्रतिदिन पंच-महायज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिये। "वैदिक धर्म और राष्ट्रोन्नति" निबन्ध में प्रसंग से इन पंच-महायज्ञों के स्वरूप और उन की व्यावहारिक उपयोगिता का भी संक्षिप्त विवेचन हो गया है। "वैदिक धर्म और उपासना" निबन्ध में इन पंच-महायज्ञों में से ब्रह्मयज्ञ अथवा सन्ध्योपासना के सम्बन्ध में बहुत विस्तार से विचार किया गया है, और अनेक मौलिक बातें कही गई हैं। वैदिक धर्म में मनुष्य-जीवन का मुख्य और अन्तिम लक्ष्य ब्रह्मसाक्षात्कार और उस से मिलने वाली ब्रह्मानन्द की प्राप्ति बताया गया है। इस के लिये ब्रह्म अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को समझना और उस के साक्षात्कार के साधनों को जानना ज़रूरी है। "वैदिक धर्म और राष्ट्रोन्नति" निबन्ध में प्रसङ्ग से परमात्मा के स्वरूप का भी विवेचन हो गया है और परमात्मा की सत्ता की सिद्धि में कुछ प्रमाण भी उपस्थित कर दिये गये हैं तथा यह भी दिखा दिया गया है कि परमात्मा में विश्वास किस प्रकार व्यावहारिक जीवन में भी लाभ पहुंचाता है। "वैदिक-धर्म और उपासना" निबन्ध में उपासना के स्वरूप पर विस्तार से विचार करते हुए परमात्मा के साक्षात्कार के साधनों का भी विवेचन हो गया है। वैदिक धर्म और संस्कृति में गौ का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। वहां गौ का पालन प्रत्येक गृहस्थ का आवश्यक कर्तव्य माना गया है। गो-पालन और गो-रक्षा के सम्बन्ध में वैदिक धर्म क्या-कुछ कहता है?

इस सम्बन्ध में "वेद और गोपालन" निबन्ध में बहुत विस्तार से विचार किया गया है। वैदिक धर्म अहिंसावादी धर्म है। उस में गौ और दूसरे पशु-पक्षियों की हिंसा सर्वथा निषिद्ध है। वैदिक धर्म के अनुसार गौ आदि पशुओं का केवल दूध पीया जा सकता है, उन्हें मार कर उन का मांस नहीं खाया जा सकता। इस सम्बन्ध में "वेद और गो-पालन" तथा "वैदिक धर्म और मांस-भक्षण" निबन्धों में पर्याप्त विचार किया गया है। "वैदिक धर्म और मांसभक्षण" निबन्ध में इस सम्बन्ध में भी विस्तार से विचार किया गया है कि किसी भी पशु-पक्षी का मांस क्यों नहीं खाना चाहिये। वैदिक धर्म के अनुसार मनुष्य-समाज में स्त्रियों का क्या स्थान है इस सम्बन्ध में "वैदिक धर्म में स्त्रियों की स्थिति" निबन्ध में विचार किया गया है और स्त्रियों-सम्बन्धी अनेक समस्याओं का वेद के आधार पर समाधान किया गया है। "वैदिक धर्म और अन्य धर्मावलम्बी" निबन्ध में यह दिखाया गया है कि वैदिक-धर्मियों का अन्य धर्मों के अनुयायियों के प्रति क्या दृष्टिकोण रहता है। वैदिक धर्म का मूलस्रोत वेद है। वैदिकधर्मी लोग वेद को ईश्वर की वाणी मानते हैं। उन के मत में वेद अपौरुषेय हैं—ईश्वर द्वारा दिया हुआ ज्ञान या इलहाम हैं। वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने में क्या प्रमाण हैं इस विषय में "वेद और इलहाम" निबन्ध में विचार किया गया है। विचारशील पुरुषों के मन में अनेक वार यह प्रश्न भी उठा करता है कि धर्म का विशुद्ध स्वरूप क्या है और विशुद्ध धर्म को जानने की कसौटी क्या है। इस प्रश्न का समाधान "वैदिक धर्म और राष्ट्रोन्नति" तथा "वैदिक धर्म और अन्यधर्मावलम्बी" इन निबन्धों में किया गया है, और बताया गया है कि विशुद्ध धर्म की कसौटी पर वैदिक-धर्म ही पूरा उतरता है। वैदिक-धर्म-विषयक और भी कितनी ही बातों का विवेचन इस संग्रह के निबन्धों में हो गया है। इस प्रकार इस संग्रह के निबन्धों के अध्ययन से लेखक के प्रिय धर्म वैदिक-धर्म का एक समुज्ज्वल और लोक-कल्याणकारी चित्र पाठकों के मन में उपस्थित हो जायेगा। इसी से हम ने इस निबन्ध-संग्रह का नाम "मेरा धर्म" रखा है।

"मेरा धर्म" के अध्ययन से पाठक वैदिक-धर्म का जो स्वरूप देखेंगे वह ऐसा है जिस में मनुष्य के वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रिय जीवन की सभी प्रकार की समस्याओं का समाधान करने का सामर्थ्य है। वैदिक-धर्म ऐसा धर्म है जो मनुष्य की आत्मिक आवश्यकताओं को भी पूरा कर सकता है और भौतिक आवश्यकताओं को भी। वैदिक-धर्म मनुष्य की आत्मा की भूख को भी मिटा सकता है और उस के शरीर की कपड़े-लत्ते तथा रोटी की भूख को भी।

वैदिक-धर्म मनुष्य को मनुष्य से, मनुष्य को प्राणीमात्र से, और, मनुष्य को परमात्मा से व्यवहार करना सिखाता है। वैदिक धर्म हमारी धरती को स्वर्ग और हम सब को स्वर्ग में रहने वाले देवता बना सकता है।

इन निबन्धों के भाषण, जैसा ऊपर कहा गया है, सन् १६३१–४२ के सालों में दिये गये थे। इस लिये इन में का सब से पहला निबन्ध कोई २६-२७ वर्ष पहले लिखा गया था और सब से पिछला निबन्ध कोई १५-१६ वर्ष पहले लिखा गया था। इस प्रकार इन निबन्धों को लिखे काफी अरसा हो गया था। इस लिये प्रस्तुत संग्रह में इन निबन्धों को प्रकाशित करते समय इन में कहीं-कहीं कुछ घटा-बढ़ा भी दिया गया है। पर यह परिवर्तन बहुत अल्प परिमाण में ही हुआ है। निबन्धों का अधिकांश में रूप वही है जो तब था जब ये पहले-पहल लिखे गये थे। जब ये निबन्ध पढ़े गये थे, अथवा इन के आधार पर भाषण दिये गये थे तो श्रोताओं ने इन्हें काफी पसन्द किया था। आशा है "मेरा धर्म" के पाठकों को भी ये निबन्ध पसन्द आयेंगे।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

वैशाख २०१४ **प्रियव्रत वेदवाचस्पति**

मेरा धर्म

वैदिक धर्म में स्त्रियों की स्थिति

१

स्त्रियों की आज की शोचनीय अवस्था

संस्कृत के एक कवि ने एक बार स्त्रियों के सम्बन्ध में कहा था--

आवर्तः संशयानामविनयभवनं पत्तनं साहसानां,
दोषाणां सन्निधानं कपटशतगृहं क्षेत्रमप्रत्ययानाम् ।
दुर्ग्राह्यं यन्महद्भिर्नरवृषभैः सर्वमायाकरण्डम्,
स्त्रीयन्त्रं केन लोके विषममृतयुतं धर्मनाशाय सृष्टम् ॥

इस श्लोक में जो कुछ कहा गया है उस का भाव यह है कि "स्त्रियें सब संदेहों का घर, सब उद्दण्डताओं की राशि, सब प्रकार के टेढ़े-सीधे कामों की खान, सब बुराइयों का निवास, सब तरह के कपट और विश्वास न करने योग्य बातों का स्थान तथा सब तरह की चालबाज़ियों और धोखे के फलने-फूलने की भूमि होती हैं। इन का हृदय कहाँ तक नीच हो सकता है इस की थाह बड़े-बड़े भी नहीं पा सके हैं। न जाने यह स्त्रीरूप मशीन, जिस में कुछ अमृत और अधिक विष भरा हुआ है, किस ने पुरुषों के धर्म का नाश करने के लिये बना डाली है।"

आज से तिरानवे[१] साल पहले जब भगवान् दयानन्द ने भारत के रंगमंच पर अवतीर्ण हो कर परम-पावन वेद के पवित्र संदेश का शंख फूंका, पुरुष जाति की स्त्रियों के सम्बन्ध में जो धारणा थी उसे कवि का उपर्युक्त श्लोक बहुत सुन्दरता के साथ बता देता है। उन में अमृत थोड़ा और विष बहुत अधिक है, उन की रचना पुरुषों का धर्म-नाश करने के लिए, उन्हें सन्मार्ग से हटा कर कुमार्ग पर ले जाने के लिए हुई है। यह थी भावना जो कि स्त्रियों के सम्बन्ध में उस समय पुरुषों के अन्दर पाई जाती थी। संसार के धर्मों के उस समय के इतिहास पर दृष्टि डाल जाइये। आप देखेंगे कि अनेक धर्म यहाँ तक भी सिखाते रहे हैं कि स्त्रियों के भीतर किसी आत्मा या रूह का निवास नहीं होता। इसी लिये उन में किसी तरह की सोचने-समझने, जानने-बूझने और अनुभव करने की शक्ति नहीं होती। उन के साथ किसी प्रकार का मान-अपमान और आदर-

---

१. **ऋषि दयानन्द सम्वत् १९२० के प्रारम्भ में गुरु विरजानन्द से शिक्षा समाप्त कर के कार्यक्षेत्र में उतरे थे।**

सत्कार का व्यवहार किया जाये, किसी तरह के सुख-दुःखमय जीवन में उन्हें रखा जाये, उन्हें इस का कोई अनुभव नहीं होता—वे इन बातों को महसूस नहीं कर सकतीं। एक शब्द में स्त्री पुरुष की सम्पत्ति है, जैसे दूसरी भौतिक जड़ चीज़ें उस की सम्पत्ति हैं, इस लिये कोई पुरुष अपनी स्त्री से चाहे किसी भी प्रकार का व्यवहार कर सकता है। इस में वह कोई अनौचित्य करता हो यह बात नहीं है। स्त्री का पुरुष की तरह कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व (Personality) नहीं होती है। संसार में उस की सत्ता पुरुष के लिये है और उसी प्रकार से है जिस प्रकार से दूसरी सांसारिक चीज़ों की सत्ता पुरुष के लिये है। ईसाइयत जैसे प्रसिद्ध धर्मों में भी ये विचार रहे हैं।

यद्यपि हिन्दुधर्म में दार्शनिक तौर पर यह कभी नहीं माना गया कि स्त्रियों में कोई आत्मा या रूह नहीं होती, हिन्दु धर्म ने दार्शनिक रूप में यह कभी स्वीकार नहीं किया कि स्त्रियों में किसी तरह की सोचने-समझने, जानने-बूझने और अनुभव करने की शक्ति नहीं होती, दार्शनिक तौर से हिन्दुधर्म ने उन में इन सब बातों का रहना स्वीकार किया है, पर पिछली अनेक शताब्दियों से अपने अमली जीवन में हिन्दु लोग भी स्त्रियों से इसी ढंग का बर्ताव करते रहे हैं कि मानो वे उन में किसी प्रकार के आत्मा या रूह की उपस्थिति स्वीकार न करते हों। मेरे घर में अनाज रहता है, कपड़े-लत्ते होते हैं और गाय-भैंसें बंधी होती हैं। क्यों ? इस लिये कि मेरे अन्दर एक विशेष प्रकार की इच्छायें पैदा होती हैं, उन इच्छाओं की पूर्ति मेरे घर में पड़ा अन्न कर देता है। एक दूसरे प्रकार की इच्छायें मेरे अन्दर उत्पन्न होती हैं, उन की पूर्ति मेरे वस्त्रों से हो जाती है। एक तीसरे प्रकार की इच्छायें मेरे मन में स्थान करती हैं, उन की पूर्ति मेरी गाय-भैंसों से उत्पन्न होने वाले दूध और घी-मक्खन कर देते हैं। इसी प्रकार मेरे अन्दर एक और प्रकार की इच्छायें पैदा होती हैं। उन की पूर्ति भी मुझे किसी प्रकार करनी चाहिये। इस के लिए मैं विवाह कर के अपने घर में एक स्त्री ला रखता हूं। यदि एक स्त्री से मेरी अनियन्त्रित इच्छायें पूरी नहीं होती हैं तो मैं आवश्यकतानुसार एक से अधिक स्त्रियें भी अपने पास रख सकता हूं। मेरे घर में स्त्री भी एक वैसी ही खाने-पीने की सी उपयोगी चीज़ होती है जैसी अनाज और घी-दूध जैसी दूसरी बीसियों चीज़ें। बस, इस से अधिक ऊंची कोई और स्थिति अपने व्यावहारिक जीवन में हम हिन्दू लोग भी स्त्रियों को प्रायः नहीं देते रहे हैं। हम ने यह बहुत कम स्वीकार किया है कि संसार के विद्या-विज्ञान को, सभ्यता और संस्कृति को, ऊंचा उठाने में स्त्री भी उसी

प्रकार भारी भाग ले सकती है जिस प्रकार पुरुष लेता है--वह भी इस संसार को अधिक उन्नत और अच्छा बनाने के लिये वैसा ही काम कर सकती है जैसा कि पुरुष करता है। हम ने पुरुषों के सम्बन्ध में तो यह स्वीकार किया कि प्रत्येक पुरुष में परमात्मा की ओर से पचासों प्रकार की शक्तियें और संभावनायें रख दी गई हैं। यदि उन्हें खिलने और खुलने का अवसर दिया जाये तो न जाने कौन पुरुष किस दिन क्या बन कर दिखा सकता है और संसार की उन्नति को और उन्नत करने में समर्थ हो सकता है। यदि अवसर मिले तो न जाने हम में से कौन एक उत्कृष्ट कवि हो सकता है, एक अच्छा न्यायाधीश और एक तीव्र-बुद्धि बैरिस्टर बन सकता है, एक निर्भय सैनिक और योग्य सेनापति तथा ऐड-मिरल (जल सेनापति) बन सकता है, आकाशचारी वायुयान-संचालक हो सकता है, एक देश का राष्ट्रपति चुना जा सकता है तथा एक भारी व्यापारी या प्रखर विद्वान् एवं धुरन्धर व्याख्याता बन सकता है। और इस प्रकार अपनी विशेष योग्यता से संसार की सभ्यता, संस्कृति और विद्या-विज्ञान की वृद्धि करता हुआ उसे अधिक उन्नत बनाने में कारण बन सकता है। हम ने पुरुषों में इन सभी ईश्वरप्रदत्त शक्तियों की संभावना स्वीकार की है और इन संभावनाओं को वास्तविकता का रूप देने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार सभी प्रकार की सहा-यता-सुविधा देने के उन के प्रति अपने कर्तव्य को हम बहुत कुछ पहचानते रहे हैं। पर स्त्री में हम ने इस प्रकार की संभावनायें (Possibilities) प्रायः कभी स्वीकार नहीं कीं। हम ने प्रायः कभी नहीं माना कि कोई स्त्री भी संसार के विद्या-विज्ञान, सभ्यता और संस्कृति को आगे बढ़ाने में किसी प्रकार का हाथ बटा सकती है। हमारे मस्तक में प्रायः यह कभी नहीं आया कि स्त्री भी वकील, न्यायाधीश, सिपाही, सेनापति, ऐडमिरल, राष्ट्रपति एवं व्याख्याता और उपदेष्टा आदि में से कुछ बन सकती है। हम ने यह नहीं माना और इसी लिये हम ने इस दिशा में स्त्रियों को भी किसी तरह की सहायता-सुविधा देने की ज़रूरत है इस बात को कभी नहीं पहचाना। हम स्त्रियों की पुरुष के सामने जो स्थिति समझते रहे हैं उस का निर्देश ऊपर की पंक्तियों में किया जा चुका है। उस स्थिति को अधिक स्थिर करने के लिये हमारे पण्डित-पुरोहित स्मृतियों और सूत्रग्रंथों में उस का सन्निवेश कर के उसे कानून का रूप देते रहे हैं। इस प्रकार की स्मृतियों और सूत्रग्रंथों में क्या कुछ पाया जाता है उस के उदाहरण यहाँ देने की आव-श्यकता नहीं है। हमारे लिये इतना याद रख लेना पर्याप्त है कि उस सारी शिक्षा का दो शब्दों में निचोड़ यह है कि स्त्री सिर्फ पुरुष के खाने-पीने की सी उस के उपभोग की सामग्री है। और उसे अपने खाने-पीने की सी वस्तु

समझते हुए भी पुरुष को स्त्री से पूरी तरह सावधान रहना चाहिये क्योंकि वह दुनियाँ-भर के दोष और छल-कपटों का घर होती है। इस प्रकार के विचार रखने वाले लोग स्त्री को क्या समझते रहे हैं इसे ऊपर उद्धृत श्लोक अति स्पष्टता से कह रहा है।

२

स्त्रियों की स्थिति और ऋषि दयानन्द

यह थी स्त्रियों की स्थिति जिस समय ऋषि दयानन्द का आविर्भाव हुआ। ऋषि से पुरुष द्वारा नारी पर होने वाला यह अत्याचार सहा न गया। उन्होंने मेघ-गम्भीर गर्जना से कहा––पुरुषो ! तुम्हें स्त्रियों पर होने वाले इस अत्याचार को बन्द करना चाहिये और उन्हें अपने साथ समता की स्थिति देनी चाहिये। लोगों ने कहा, भगवन् ! स्त्रियों की यह स्थिति तो वेदविहित है। ऋषि ने उत्तर दिया––यह झूठ है, वेद ऐसा कुछ नहीं कहते। वे तो स्त्री की बहुत ही गौरवमय स्थिति का वर्णन करते हैं। लोगों ने कहा––जाने दीजिये भगवन्! वेद को। हमारी स्मृतियें, हमारे सूत्रग्रंथ और पुराण स्त्रियों की स्थिति ऐसी ही बताते हैं जैसी कि आप देख रहे हैं। दयानन्द बोले––इन ग्रंथों की प्रामाणिकता वहीं तक है जहाँ तक ये ग्रंथ श्रुति भगवती के अनुकूल चलते हैं। जब ये ग्रंथ उस के विरुद्ध जायें तो इन की प्रामाणिकता नही रहती। तुम्हारे धर्म का विशुद्ध रूप वेद में वर्णित हुआ है। उसे पहचानो और अपना व्यावहारिक जीवन उसी के अनुसार बनाओ।

वैदिक धर्म में स्त्रियों की स्थिति

प्रिय सज्जनो ! हम आर्यसमाज के लोग उसी पवित्र वैदिक धर्म के मानने वाले हैं जिस का संसार में, विशेषकर भारतवर्ष में, बहुत पुराने समय में प्रचार था और जिसे आधुनिक समय में ऋषि दयानन्द ने फिर से लोगों के सामने अपने विशुद्ध रूप में उपस्थित किया। वैदिक धर्म में स्त्रियों की स्थिति क्या है इसे दिखाने के लिये निम्न पंक्तियें आपकी सेवा में रखी जा रही हैं।

तीन कसौटियें

यदि हमें किसी धर्म में स्त्रियों की क्या स्थिति है इसे स्पष्ट समझना हो तो तीन बातों का ध्यान रखना चाहिये। (१) एक तो यह कि किसी धर्म में भविष्य जीवन के लिये बच्चों की तैयारी के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उस में कन्याओं का क्या स्थान रखा गया है। दूसरे शब्दों में कहना हो तो किसी

धर्म में बालकों की शिक्षा पर जितना बल दिया गया है उतना ही बालिकाओं की शिक्षा पर भी बल दिया गया है कि नहीं, यह हमें सब से प्रथम देखना चाहिये। (२) दूसरी बात देखने की यह है कि जब स्त्री-पुरुष मिल कर, विवाहित हो कर, अपना जीवन व्यतीत करना आरम्भ करते हैं तब पुरुष के सामने स्त्री की क्या स्थिति किसी धर्म में रखी गई है। और (३) तीसरी बात जो देखनी चाहिये वह यह है कि किसी धर्म में कुटुम्ब से बाहर का जो स्त्री का जीवन है, उस की घर से बाहर समाज में जो स्थिति है, वह कैसी है। किसी भी धर्म में नारी का क्या स्थान है यह समझना हो तो हमारे लिये इन तीन बातों का देखना अत्यन्त आवश्यक है। मैं क्रमशः एक-एक बात को ले कर, वेद उस सम्बन्ध में स्त्री जीवन का क्या आदर्श रखता है यह आपकी सेवा में रखने का यत्न करूंगा।

३

वेद और स्त्री-शिक्षा

पहले बालिकाओं की भविष्य जीवन की तैयारी अर्थात् शिक्षा को लीजिये। वेद में भविष्य के लिये तैयारी के जीवन को, विद्यार्थी-जीवन को, ब्रह्मचर्यकाल कहा जाता है। एक विद्यार्थी के जीवन का आदर्श क्या होना चाहिये यह ब्रह्मचर्य शब्द की रचना को देखने से ही साफ हो जाता है। पर इस समय हमें इस शब्द के अर्थों की बारीकियों में जाने की आवश्ययता नहीं है। मैं अधिक स्पष्टता से इस सम्बन्ध में वेद के अभिप्राय को आप के सामने रखना चाहता हूं। अथर्ववेद का ब्रह्मचर्य-सूक्त (अथर्व. ११. ५.) विद्यार्थी का शिक्षा-काल किन परिस्थितियों में बीतना चाहिये, शिष्य को कैसे गुरुओं से शिक्षा मिलनी चाहिये, शिष्य और गुरु का पारस्परिक सम्बन्ध किस तरह का रहना चाहिये तथा विद्यार्थी को अपने शिक्षाकाल में क्या-क्या पढ़ना चाहिये, इन सब बातों को बहुत ही सुन्दर ढंग से बताता है। ब्रह्मचर्य-सूक्त में वर्णित इन सब बातों को यहाँ बता सकना संभव नहीं है। वहां पर विद्यार्थी को पढ़ाना क्या-क्या चाहिये इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है सिर्फ उसे ही थोड़े में कह कर मैं संतोष करूंगा। उस सूक्त के चौथे[1] मन्त्र में कहा गया है कि विद्यार्थी को चाहिये कि वह अपने अन्दर ज्ञान की आग को सदा प्रज्वलित रखे। उसे प्रज्वलित करने के लिये वह उस में पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ इन तीन लोकों को समिधा बना कर डालता

---

१. इयं समित्पृथिवि द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति॥ अथर्व. ११. ५. ४।

रहे अर्थात् इन तीन लोकों में––विश्व भर में––पाये जाने वाले पदार्थों के सम्बन्ध में सब विद्या-विज्ञानों को वह सीखता रहे। इस विद्या-प्राप्ति के साथ-साथ उसे चाहिये कि वह तीन बातों का ध्यान और रखे। एक तो, यह कि वह हर समय आलस्य से रहित हो कर मुस्तैद, चौकन्ना, जागरूक, कटिबद्ध (मेखलाधारी) रहे। दूसरे, उसे प्रतिदिन शारीरिक व्यायाम (श्रम) करते रहना चाहिये। तीसरे, उसे अपना जीवन तपस्वी अर्थात् सादा और कष्टसहिष्णु बनाना चाहिये। उसी सूक्त में यह भी आदेश कर दिया गया है कि विद्यार्थी को भौतिक विद्या-विज्ञानों के साथ-साथ आत्मा-परमात्मा के ज्ञान या ब्रह्मविद्या को भी पूरी तरह सीखना चाहिये और इस प्रकार अपने को भविष्य जीवन के लिये सब तरह से तैयार और योग्य बना लेना चाहिये। उसी सूक्त में आगे चल कर कहा गया है कि कन्या को भी ब्रह्मचर्य का जीवन बिता कर ही विवाहित जीवन में प्रवेश करना चाहिये[1]। कन्या के ब्रह्मचर्य का जीवन बिताने का अभिप्राय है कि वह ब्रह्मचारी के कर्तव्यकर्म को पूरा करे अर्थात् जो कुछ ब्रह्मचारी के लिये जानना और करना आवश्यक है उसे जाने और करे। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सूक्त में बालिकाओं की शिक्षा पर भी उतना ही बल दिया गया है जितना बालकों की शिक्षा पर दिया गया है।

अथर्ववेद के चौदहवें काण्ड में तो इस विषय को सर्वथा ही स्पष्ट कर दिया गया है। उस काण्ड में स्त्री और पुरुष के विवाहित जीवन के कर्तव्यकर्मों का वर्णन किया गया है। वहाँ यह भी बताया गया है कि किस योग्यता के स्त्री और पुरुष को विवाहित जीवन में प्रवेश करना चाहिये। उसी काण्ड के प्रथम सूक्त का छठा मन्त्र **"चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम् द्यौर्भूमिः कोश आसीद्यदयात्सूर्या पतिम्"**[2] है। इस मन्त्र में कन्या के माता-पिता को सम्बोधन करके कहा गया है कि उन्हें चाहिये कि जब उन की कन्या विवाहित हो कर पति के घर में जाने लगे तो उसे दहेज दें। पर वह दहेज़ कैसा? 'चित्ति' अर्थात् दिमागी शक्ति (Intellectuality) उस में गदैले-तकिये आदि की जगह हो, 'चक्षु' अर्थात् चीज़ों की गहराई में जाकर ध्यान से देखने की शक्ति (Power of Observation) उस में अजंन अर्थात् सुरमा आदि शृङ्गार की चीजों के स्थान में हो, और द्युलोक तथा पृथिवी लोक के बीच में आने वाले सारे जगत् का ज्ञान उस में 'कोश' अर्थात् रुपये पैसे की जगह हो। यह मन्त्र तो यहाँ तक

---

१. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अथर्व. ११. ५. १८।

२. अथर्व. १४. १. ६।

बढ़ता है कि माता-पिता को चाहिये कि वे अपनी कन्या को दहेज़ भी दें तो वह ज्ञान का दहेज़ हो। यही दहेज वस्तुतः आवश्यक दहेज़ है। दूसरे दुनियादारी के दहेज़ कोई दे सकें तो दे दें, न दे सकें तो न दें। इस की कोई विशेष चिन्ता नहीं। पर ज्ञान का दहेज़ तो कन्या को मिलना ही चाहिये। ऋग्वेद[१] में भी ऐसा ही उपदेश है। यह मन्त्र सुन लेने के पीछे वेद में स्त्रियों की शिक्षा के सम्बन्ध में क्या आदेश है इसे दिखाने के लिये किसी और प्रमाण की आवश्यकता नहीं रह जाती। पर इस सम्बन्ध में कुछ और प्रमाण भी दे देना अनुपयुक्त न होगा।

वेद के भिन्न-भिन्न स्थलों में स्त्री से इस प्रकार की बातें कही गई और प्रार्थनाएं की गई हैं कि "हे पत्नि! तू हमें ज्ञान का उपदेश कर[२]", "पति को धन कमाने के ढंग बता[३]", "तू सब प्रकार के कर्मों का ज्ञान रखती है[४]", "तू सब कुछ जानने वाली हमें धनधान्य की पुष्टि दे[५]", "तू हमें बुद्धियों से धन दे[६]", "तू हमारे घर की प्रत्येक दिशा में ब्रह्म अर्थात् वैदिक ज्ञान का प्रयोग कर[७]।" इन सब वचनों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि वेद की सम्मति में प्रत्येक स्त्री को विवाह से पहले जहाँ तक हो सके सब प्रकार के ज्ञान प्राप्त कर लेने चाहियें ताकि वह अपने गृहस्थ जीवन में उन से यथायोग्य उपयोग ले सके।

इस प्रकार हम ने देखा है कि वेद का धर्म बालकों की तरह ही बालिकाओं की शिक्षा पर भी पूरा बल देता है और कहता है कि उन्हें भी बालकों की तरह संसार का प्रत्येक विज्ञान और प्रत्येक विद्या सिखाई जानी चाहिये।

४

वेद और स्त्रियों का विवाहित जीवन

अब मैं वैदिक धर्म के अनुसार विवाहित जीवन में स्त्री की क्या स्थिति है इसे आप की सेवा में उपस्थित करूंगा।

---

१. 'चित्तिरा ···· पतिम्'। ऋग्. १०. ८५. ७।

२. त्वं विदथमा वदासि। अथर्व. १४. १. २०।

३. पतिं देवि राधसे चोदयस्व। अथर्व. ७. ४६. ३।

४. कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनापसम्। अथर्व. ७. ४७. १।

५. आद्य रायस्पोषं चिकितुषी दधातु। अथर्व. ७. ४७. २।

६. यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगे रराणा॥ अथर्व. ७. ४८. २।

७. ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः। अथर्व. १४. १. ६४।

विवाह की आयु

इस सम्बन्ध में हमें पहले यह देख लेना चाहिये कि विवाहित जीवन में प्रवेश करने के समय वर और वधू की आयु क्या होनी चाहिये। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हुए वर और वधू का एक वार्तालाप ऋग्वेद के १० वें मण्डल के १८३ सूक्त में दिया गया है। वहाँ दोनों ओर से एक दूसरे को युवा, युवति, पुत्रकाम और पुत्रकामा[1] इन शब्दों से सम्बोधन किया गया है। जिस से स्पष्ट प्रकट होता है कि वेद की सम्मति में उन्हीं स्त्री-पुरुषों को विवाहित जीवन में प्रवेश करना चाहिये जो युवा अर्थात् जवान हो चुके हों, और जिन में सन्तानोत्पत्ति की इच्छा उत्पन्न होने लग गई हो। इस प्रकार वेद बाल-विवाह की जड़ पर कुल्हाड़ा रख देता है। इसी प्रकार गृहस्थ में प्रवेश करते हुए वर-वधू के पारस्परिक वार्तालाप में या दूसरों द्वारा उन के सम्बोधन में वेद के भिन्न-भिन्न स्थलों में प्रयुक्त किये गये पतिकामा, जनिकाम:[2] आदि विशेषण भी इसी बात का उपदेश देते हैं कि स्त्री और पुरुष का विवाह उस समय होना चाहिये जब कि उन के अन्दर एक दूसरे के लिये चाह पैदा होनी आरम्भ हो जाये। यह चाह यौवन में ही स्त्री पुरुष में उत्पन्न होती है। अत: दोनों का विवाह युवावस्था में होना ही स्वाभाविक है।

इस सम्बन्ध में एक बात और देखने योग्य है। अथर्ववेद का १४ वां काण्ड तथा ऋग्वेद का १०. ८५ सूक्त जो कि स्त्री और पुरुष के विवाहित जीवन के कर्त्तव्य-कर्मों और धर्मों का प्रतिपादन करते हैं कन्या को कन्या या इस के पर्यायवाची शब्दों से स्मरण नहीं करते। वहाँ उस के लिये 'सूर्या' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार वहाँ आरम्भ में ही वरों के लिये "आदित्य" शब्द का प्रयोग किया गया है। अब यदि हम, ऋषि दयानन्द ने पुराने शास्त्रों के आधार पर वैदिक विद्यार्थी जीवन के—ब्रह्मचर्य के—जो तीन भेद किये हैं उन के आधार पर, "आदित्य" और "सूर्या" शब्द का अभिप्राय समझना चाहें तो "आदित्य" वह पुरुष कहलाता है जिसने ४८ वर्ष की आयु तक कभी स्वप्न में भी कोई गन्दा विचार अपने मन में उत्पन्न नहीं होने दिया और जो अपनी जीवनी शक्ति का एक कतरा भी अपने शरीर से बाहर न होने दे कर अपने दिमाग को विद्याओं से भरता रहा तथा योगाभ्यास से अपना आत्मा उच्च और पवित्र बनाता रहा हो। ऐसा पुरुष आदित्य इस लिये कहलाता है कि वह किसी से

---

१. ऋग्. १०. १८३. १, २।
२. अथर्व. २. ३०. ५।

दबता नहीं और संसार के अज्ञान और मिथ्या विश्वासों के अन्धकार को छिन्न-भिन्न करता रहता है जिस प्रकार कि यह भौतिक आदित्य—आकाश में चमकने वाला सूर्य—किसी से दबता नहीं और संसार के अन्धकार को छिन्न-भिन्न करता रहता है। इसी प्रकार जो बालिका २४-२५ साल की आयु तक कभी स्वप्न में भी अपने को अपवित्र न करती हुई अपने शरीर, दिमाग और आत्मा को उन्नत करती है उसे आदित्या ब्रह्मचारिणी कहा जाता है। सूर्य आदित्य का ही दूसरा पर्याय है। इस प्रकार वर को "आदित्य" और वधू को "सूर्या" अर्थात् आदित्या कहने का अभिप्राय यह है कि वेद की सम्मति में आदर्श विवाह वह है जो कि आदित्य ब्रह्मचारी बालक और आदित्या ब्रह्मचारिणी कन्या में सम्पन्न होता है। जो लोग इस ऊंचे आदर्श तक नहीं पहुंच सकते उन के लिये "वसु" और "रुद्र" ब्रह्मचर्य के निचले दो विकल्प हैं। कम से कम वसु ब्रह्मचर्य तो प्रत्येक बालक और बालिका को पूरा करना ही चाहिये। अर्थात् कम से कम २४-२५ वर्ष के ब्रह्मचारी पुरुष और १६-१७ वर्ष की ब्रह्मचारिणी कन्या से कम आयु के बालक और बालिकाओं का विवाह नहीं होना चाहिये। इस से कम आयु में विवाह करना पाप गिना गया है।

लोग कहेंगे, तुम्हारी आदित्य ब्रह्मचर्य की कल्पना एक निरी स्वप्न जगत् की कल्पना सी (Utopia) है—एक न हो सकने वाली बात है। क्या कभी इतनी ऊंची आयु तक भी बालक और बालिकायें अपने को इतना पवित्र, कि स्वप्न में भी बुरे विचार मन में पैदा न हों, रख सकते हैं ? हम इतना ही कहना चाहते हैं कि कमज़ोर निश्चय वाले लोगों को प्रत्येक नई बात प्रायः अशक्य लगा करती है। संसार की प्रायः सभी बड़ी-बड़ी लहरें (Movements) प्रारम्भ में अधिकांश लोगों को असंभव लगती रही हैं। पर दृढ़ निश्चय वाले लोग उन के अनुसार बहुत कुछ कर दिखाते रहे हैं। प्रारम्भ में कौन समझता था कि कभी सोशलिज्म (Socialism) और बौल्शेविज्म (Bolshevism) भी सफल हो सकेंगे। पर आज संसार का एक बड़ा भाग उन के आगे सिर झुका रहा है। वैदिक धर्म का आदित्य ब्रह्मचर्य का आदर्श भी पूरा हो सकता है यदि हम में इस के लिए प्रेम और निश्चय की दृढ़ता हो। लोग कहते हैं कि आर्यसमाज की आवश्यकता नहीं रही। मैं तो कहता हूं, जब तक वेद का यह आदित्य ब्रह्मचर्य का आदर्श पूरा नहीं हो जाता—जब तक हम अपने बालक और बालिकाओं के लिये ऐसी परिस्थितियें पैदा नहीं कर सकते जिन में उन्हें आदित्य ब्रह्मचर्य की अवधि तक स्वप्न में भी पवित्र रहते हुए अपने शरीर, मन और आत्मा को सब प्रकार से योग्य बनाने का अवसर मिल

सके तब तक, यदि और बातों को छोड़ भी दें तो भी, आर्यसमाज की संसार को आवश्यकता है। आर्यसमाज को अपने इस भारी कर्त्तव्य को समझना चाहिये।

पति-पत्नी एक-दूसरे को स्वयं चुनते हैं

वेद में वर-वधू के विवाह की आयु की अवधि दिखाने के पश्चात् हम यह दिखाना चाहते हैं कि वैदिक धर्म में उन्हीं स्त्री-पुरुषों का विवाह-सम्बन्ध हो सकता है जिन्होंने एक-दूसरे को भली प्रकार जान लिया और देख लिया है। ऋग्वेद के १० वें मण्डल के १८३ वें सूक्त में विवाह करने की इच्छा वाली वधू अपने भावी पति को सम्बोधन कर के कहती है—"हे वर ! मैंने अपने मन से अच्छी प्रकार तुम्हें जान लिया है, तुम बहुत अच्छे ज्ञानी हो और गुरुकुल में तप का—सादगी और संयम का—जीवन व्यतीत करके आये हो और तुम्हें संतान की कामना है, आइये हम दोनों मिल कर सन्तानोत्पत्ति करें[१]।" इसी प्रकार वर वधू से कहता है—"हे वधू ! मैंने तुम्हें अपने मन से जान लिया है, तुम उच्च गुणों वाली युवति हो और मुझे चाह रही हो, तुम्हें संतान की कामना भी है, आओ हम मिल कर सन्तानोत्पत्ति करें[२]।" इसी प्रकार अथर्व. २. ३०. १ में वर-वधू "एक-दूसरे को चाहने वाला[३]" ऐसे शब्दों से याद करते हैं। अथर्व. २. ३६. ५ में वधू से कहा गया है कि—"हे वधू ! तुम ऐश्वर्य की नौका पर चढ़ो और अपने पति को, जो कि तुम ने स्वयं पसन्द किया है, संसार-सागर के परले पार पहुँचा दो[४]।" अथर्व. १४. १. ६ में कहा है कि—"वर वधू को चाहने वाला हो और वधू पति को पसन्द कर रही हो[५]।" इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद की सम्मति में वर-वधू का विवाह एक दूसरे को अच्छी प्रकार जान लेने के पीछे परस्पर की सहमति से होना चाहिये। परस्पर की सहमति के बिना वर-वधू का विवाह नहीं होना चाहिये।

---

१. अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो विभूतम्।
इह प्रजामिह रयिं रराणः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकाम ॥ ऋग्. १०. १८३. १।

२. अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम्।
उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकामे ॥ ऋग्. १०. १८३. २।

३. यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः। अथर्व. २. ३०. १।

४. भगस्य नावमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम्।
तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः ॥ अथर्व. २. ३६. ५।

५. सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा।
सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताददात् ॥ अथर्व. १४. १. ६।

चुनाव में माता-पिता का सहयोग

एक बात और है। यद्यपि विवाह में वर-वधू की पारस्परिक सहमति का रहना अत्यावश्यक है, पर युवक और युवति को अपना जीवन-भर का साथी चुनने में अपने माता-पिता आदि गुरुजनों की सलाह का भी पूरा ध्यान रखना चाहिये ताकि वे अनुभवहीनता के कारण अपना साथी चुनने में कोई गलती न कर बैठें। इसी भाव को बतलाने के लिये अथर्ववेद के १४. १. ६ मन्त्र में कहा है—**"मनसा सवितादात्"** अर्थात् "कन्या को उत्पन्न करने वाला पिता अपने मन से—सारी बातें सोच-समझ कर—कन्या को पति के हाथ में देता है।" उसी मन्त्र में कहा है—**"अश्विनास्तामुभा वरा"** अर्थात् "वर और कन्या के माता-पिता कन्या और वर को पसन्द करने वाले बनते हैं।" इस प्रकार हम ने देखा कि माता-पिता आदि गुरुजनों की सलाह लेते हुए वर-वधू एक दूसरे को अच्छी प्रकार जान और देख-भाल कर परस्पर की अभिरुचि और सहमति से विवाह करें ऐसा वेद का आदेश है।

पति के घर में पत्नी की स्थिति

जब विवाह हो कर वधू पति के घर में आ जाती है तो वहाँ उस की स्थिति किसी भी प्रकार से हीन और अपमानजनक नहीं होती। प्रत्युत उसे पति के घर में बहुत ही सम्मानजनक स्थान मिलता है और पति के घर वाले उस के अपने यहाँ आ जाने से अपना भारी गौरव अनुभव करते हैं। इसे दिखाने के लिये हम वेद से यहाँ कुछ उद्धरण देते हैं—"हे वर ! यह वधू तुम्हारे कुल की रक्षा करने वाली है,[१]" "यह वधू पति के घर में जाकर रानी बने और वहाँ प्रकाशित होवे,[२]" "हे वधू ! तू ऐश्वर्य की नौका पर चढ़ कर पति को पार पहुँचा,[३]" "यह स्त्री हमारे खिले हुए घर में एक खिली हुई कली है,[४]" "ये स्त्रियें शुद्ध, पवित्र और यज्ञिय हैं, ये प्रजा, पशु और अन्न देती हैं,[५]" "हे मातृ-भूमि ! कन्याओं में जो तेज होता है वह हमें दो,[६]" "ये स्त्रियें कभी दुःख से

---

१. एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि। अथर्व. १. १४. ३।

२. सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु। अथर्व २. ३६. ३।

३. भगस्य नावमारोह पूर्णामनुपदस्वतीम्।
तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः॥ अथर्व. २. ३६. ५।

४. कोशे कोशः समुब्जितः। अथर्व. ६. ३. २०।

५. शुद्धाः पूताः योषितो यज्ञिया इमा आपश्चरुमव सर्पन्तु शुभ्राः।
अदुः प्रजां बहुलां पशून् नः पक्तौदनस्य सुकृतामेतु लोकम्॥ अथर्व. ११. १. १७।

६. कन्यायां वर्चो यद्भूमे तेनास्माँ अपि संसृज। अथर्व. १२. १. २५।

रोयें नहीं, इन्हें नीरोग रखा जाये और रत्नादि पहनने को दिये जायें,[१]" "हे वधू ! तू पति के घर में जाकर गृहपत्नी और सब को वश में रखने वाली बन,[२]" "हे वधू ! तू श्वशुर, सास, देवर और ननन्द की सम्राज्ञी या उन में चमकने वाली बन,[३]" "हे पत्नि ! अपने सौभाग्य के लिये मैं तेरा हाथ पकड़ता हूं,[४]" "हे पत्नि ! मैं सदा तेरा भरण-पोषण करूंगा,[५]" "मैंने अपनी पत्नी को देख-भाल कर पसन्द कर के लिया है, मैं अपने मित्रों-सहित उस के कहे में चलूंगा,[६]" "हे वधू ! तू हमारे घर चलने के लिए तैयार हो, वहाँ तुझे अमृत का लोक प्राप्त होगा,[७]" "हे वधू ! तू कल्याण करने वाली है और घरों को उद्देश्य तक पहुंचाने वाली है,[८]" "तुम पति-पत्नी दोनों यहाँ हंसते-खेलते हर्ष में रहो, सुन्दर घरों में सुन्दर सन्तानों वाले बनो,[९]" "हम इस पत्नी के सब अङ्गों में रोग न आने दे कर इसे सर्वथा नीरोग रखते हैं,[१०]" "हे पत्नि ! मैं ज्ञानवान् हूं तू भी ज्ञानवती है, मैं सामवेद हूं तो तू ऋग्वेद है,[११]" "यह वधू विराट् अर्थात् चमकने वाली है, इस ने सब को जीत लिया है[१२]"।

ये उद्धरण हम ने अथर्ववेद से दिये हैं। इन में जो भाव प्रकट किये गये हैं वैसे ही भाव ऋग्वेद के १० वें मण्डल के ८५ वें सूक्त में भी प्रकट किये गये हैं। स्थानाभाव से उस सूक्त के उद्धरण हम यहाँ नहीं दे रहे। पति के घर में आने पर वधू की वहाँ कितनी सम्मान-जनक और गौरवमयी स्थिति वैदिक धर्म में कही गई है इस की कुछ झलक ऊपर के उद्धरणों से हमें मिलती है।

---

१. इमा नारीः ··· अनश्रवो अनमीवाः सुरत्नाः ····। अथर्व. १२. २. ३१।

२. गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी। अथर्व. १४. १. २०।

३. सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः॥ अथर्व. १४. १. ४४।

४. गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम्। अथर्व. १४. १. ५०।

५. ममेयमस्तु पोष्या। अथर्व. १४. १. ५२।

६. जायां जिज्ञासे मनसा चरन्तीम्। तामन्वर्तिष्ये सखिभिर्नवग्वैः। अथर्व. १४. १. ५६।

७. आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकम्। अथर्व. १४. १. ६१।

८. सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः।
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान्॥ अथर्व. १४. २. २६।

९. ···· हसामुदौ महसा मोदमानौ। सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ ···। अथर्व १४. २. ४३।

१०. अङ्गादङ्गाद् वयमस्या अप यक्ष्मं नि दध्मसि। अथर्व. १४. २. ६९।

११. अमोऽहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक् त्वम्। अथर्व. १४. २. ७१।

१२. विराडियं सुप्रजा अत्यजैषीत्। अथर्व. १४. २. ७४।

एक-पति और एक-पत्नी व्रत

वैदिक धर्म में एक पुरुष की एक ही पत्नी हो सकती है तथा एक स्त्री का एक ही पति हो सकता है। यह नियम जीवन भर के लिये लागू है। अर्थात् पति के मर जाने पर स्त्री को तथा स्त्री के मर जाने पर पति को दूसरा विवाह करने का अधिकार नहीं है।

तलाक नहीं हो सकता

साथ ही वैदिक धर्म में तलाक की भी जगह नहीं है। वर-वधू को विवाह से पूर्व भली-भाँति देख-भाल और पड़ताल कर के अपना साथी चुनने का आदेश दिया गया है—खूब अच्छी तरह परख कर अपना साथी चुनो। पर जब एक वार विवाह हो गया तो फिर विवाह टूट नहीं सकता—तलाक नहीं हो सकता। फिर तो एक दूसरे की कमी और दोषों को दूर करते हुए प्रेम और सहिष्णुता से गृहस्थ में रहो। एक पुरुष की एक ही पत्नी और एक स्त्री का एक ही पति होना चाहिये तथा विवाहित पति-पत्नी में कभी तलाक नहीं होना चाहिये इस विषय पर प्रकाश डालने वाले वेद के कुछ स्थल पाठकों के अवलोकनार्थ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। अथर्व. ७. ३७. १ में पति से पत्नी कहती है—"हे पति तुम मेरे ही रहो, अन्य नारियों का कभी चिन्तन भी मत करो[१]।" अथर्व. २. ३०. १ में पति पत्नी से कहता है—"हे पत्नी ! तू मुझे ही चाहने वाली हो, तू मुझ से कभी अलग न हो[२]।" अथर्ववेद के चौदहवें काण्ड और ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ८५ वें सूक्त में विवाह के समय नव वर-वधू को उपदेश दिया है कि "तुम दोनों पति-पत्नी सारी आयु भर इस विवाहित जीवन के बन्धन में स्थिर रहो, तुम कभी एक दूसरे को मत छोड़ो[३]।" अथर्ववेद में वहीं चौदहवें काण्ड में कहा है—"ये नव विवाहित पति-पत्नी सारी आयु भर एक-दूसरे के साथ इस प्रकार इकट्ठे रहें जिस प्रकार चकवा और चकवी सदा इकट्ठे रहते हैं[४]।" ऋग् १०. ८५. ४७ में विवाह के समय वर-वधू अपने आप को पूर्ण रूप से एक-दूसरे में मिला देने का संकल्प करते हुए कहते हैं—"सब देवों ने हम दोनों के हृदयों को मिला कर इस प्रकार एक कर दिया है जिस प्रकार दो

---

१. यथासो मम केवलो न्यासां कीर्तयाश्चन। अथर्व. ७. ३७. १।

२. मां कामिन्यसो मन्नापगा असः। अथर्व. २. ३०. १।

३. इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। अथर्व. १४. १. २२। ऋग्. १०. ८५. ४२।

४. चक्रवाकेव दम्पती ··· विश्वमायुर्व्यश्नुताम्। अथर्व. १४. २. ६४।

पात्रों के जल परस्पर मिला दिये जाने पर एक हो जाते हैं[1] ।" अथर्व. १४. १. ५२. में वर अपनी वधू को सम्बोधन कर के कहता है—"हे पत्नि ! तू मुझ पति के साथ बुढ़ापे तक चलने वाली हो[2] ।" "हे पत्नि ! तू मुझ पति के साथ सौ वर्ष तक जीवित रह[3] ।" वेद के इन और ऐसे ही अन्य स्थलों में स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है कि आदर्श स्थिति यह है कि एक स्त्री का एक पति और एक पुरुष की एक ही पत्नी रहनी चाहिये तथा उन में कभी तलाक नहीं होना चाहिये ।

विवाह वास्तव में वह दिव्य सम्बन्ध है जिस में दो व्यक्ति अपना हृदय एक-दूसरे को प्रदान कर देते हैं । हृदय एक ही बार और एक ही व्यक्ति को दिया जा सकता है । एक बार दिया हुआ हृदय फिर वापिस नहीं लिया जा सकता । इसी लिये वेद एक-पति और एक-पत्नी के व्रत का विधान करते हैं तथा तलाक का निषेध करते हैं । वेद की सम्मति में एक बार पति-पत्नी रूप में जिस का हाथ पकड़ लिया, जीवन भर उसी का हो कर रहना चाहिये । यदि एक-दूसरे में कोई दोष और त्रुटियें दीखने लगें तो उन से खिन्न हो कर एक-दूसरे को छोड़ नहीं देना चाहिये । प्रत्युत स्नेह और सहानुभूति के साथ सहनशीलता की वृत्ति का परिचय देते हुए परस्पर के दोषों को सुधारने का प्रयत्न करते रहना चाहिये । जो दोष दूर ही न हो सकते हों उन के प्रति यह सोच कर कि दोष किस में नहीं होते, उपेक्षा की वृत्ति धारण कर लेनी चाहिये । स्नेह और सहानुभूति से एक-दूसरे की कमियों को देखने पर वे कमियें परस्पर के परित्याग का हेतु कभी नहीं बनेंगी । इसी अभिप्राय से वैदिक विवाह-संस्कार में वर-वधू मिल कर मन्त्र-ब्राह्मण के वाक्यों से कुछ आहुतियें देते हैं जिन का भावार्थ इस प्रकार है—"तुम्हारी मांग में, तुम्हारी पलकों में, तुम्हारे रोमों के आवर्तों में, तुम्हारे केशों में, देखने में, रोने में, तुम्हारे शीलस्वभाव में, बोलने में, हंसने में, रूप-काँति में, दाँतों में, हाथों और पैरों में, तुम्हारी जंघाओं में, पिंडलियों में, जोड़ों में, तुम्हारे सभी अङ्गों में कहीं भी जो कोई दोष, त्रुटि या बुराई है, मैं इस पूर्णाहुति के साथ उन सब तुम्हारी त्रुटियों और दोषों को शान्त करता हूं[4] ।" विवाह संस्कार की समाप्ति पर ये वाक्य पढ़ कर आहुतियें दी

१. समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ । ऋग्. १०. ८५. ४७ ।

२. मया पत्या जरदष्टिर्यथासः । अथर्व. १४. १. ५० ।

३. मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम् । अथर्व. १४. १. ५२ ।

४. लेखासंधिषु पक्ष्मस्वावर्तेषु च यानि ते ।

जाती हैं। इन आहुतियों द्वारा वर-वधू यह संकल्प करते हैं कि हम ने एक-दूसरे को उस के सारे गुण-दोषों के साथ ग्रहण किया है। हम एक-दूसरे के दोषों से खिन्न हो कर परस्पर झगड़ेंगे नहीं, और न ही कभी एक-दूसरे का परित्याग करने की सोचेंगे। हम तो विवाह-संस्कार की इन पूर्णाहुतियों के साथ यह संकल्प दृढ़ करते हैं कि हम सदा परस्पर के दोषों को स्नेह और सहानुभूति से सुधारने और सहने का प्रयत्न करते रहेंगे। विवाह से पहले हम ने अपने साथी को इस लिये चुना था कि वह हमें अपने लिये सब से अधिक उपयुक्त और गुणी प्रतीत हुआ था। अब विवाह के पश्चात् हमारी मनोवृत्ति यह हो गई है कि क्योंकि मेरी पत्नी मेरी है और मेरा पति मेरा है, इस लिये मेरे लिये मेरी पत्नी सब से अधिक गुणवती है और मेरा पति मेरे लिये सब से अधिक गुणवान् है। अब हमारे हृदय मिल कर एक हो गये हैं। अब हमें एक-दूसरे के गुण ही दीखते हैं, अवगुण दीखते ही नहीं। और यदि कभी किसी को किसी में कोई दोष दीख भी जाता है तो उसे स्नेह और सहानुभूति से सह लिया जाता है तथा सुधारने का यत्न किया जाता है। विवाह की इन पूर्णाहुतियों में हम ने ऐसा संकल्प दृढ़ कर लिया है और अपनी मनोवृत्ति ऐसी बना ली है। जब हमारे दिल और आत्मा एक हो गये हैं तो हमारा ध्यान आपस की ऊपरी शारीरिक त्रुटियों की ओर जा ही कैसे सकता है ?

इस प्रकार वैदिक धर्म में न तो अनेक-पत्नी प्रथा (Polygamy) का स्थान है और न ही अनेक-पति प्रथा (Poliandry) का। इस के साथ वैदिक

तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा ॥
केशेषु यच्च पापकमीक्षिते रुदिते च यत्।
तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा ॥
शीलेषु यच्च पापकं भाषिते हसिते च यत्।
तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा ॥
आरोकेषु दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत्।
तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा ॥
ऊर्वोरुपस्थे जंघयोः सन्धानेषु च यानि ते।
तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा ॥
यानि कानि च घोराणि सर्वाङ्गेषु तवाभवन्।
पूर्णाहुतिभिराज्यस्य सर्वाणि तान्यशीशमं स्वाहा ॥ मन्त्र ब्राह्मण. १. ३. १–६।
गोभि. गृह्य. २. ३. ५।

धर्म में तलाक का भी विधान नहीं है। यह ऊपर दिये गये वेद के प्रमाणों से अत्यन्त स्पष्ट है।

पुनर्विवाह

वेद में चार वर्णों और चार आश्रमों की जो ऊंची, पवित्र और आध्यात्मिकता से भरी हुई मर्यादा वर्णित की गई है, वेद में ब्रह्मचर्य के जीवन पर, संयम और इन्द्रिय-जय-प्रधान जीवन पर, जो बेहद बल दिया गया है, तथा विवाहित जीवन के ऊंचे आदर्शों के सम्बन्ध में जो कुछ वेद में स्थान-स्थान पर कहा गया है, उस सब पर बारीकी से विचार करते हुए प्राचीन आचार्यों और ऋषियों ने तथा इस युग के महान् ऋषि दयानन्द ने वेद की शिक्षाओं का यह भी निष्कर्ष निकाला है कि द्विजों में—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में—विवाह केवल एक वार ही होना चाहिये। पति-पत्नी की मृत्यु हो जाने पर भी द्विजों को दूसरी वार विवाह नहीं करना चाहिये। पति-पत्नी की मृत्यु हो जाने पर केवल शूद्रों में पुनर्विवाह हो सकता है। यदि पुरुष अक्षत-वीर्य हो और स्त्री अक्षत-योनि हो तो पति-पत्नी की मृत्यु हो जाने पर द्विजों में भी पुनर्विवाह हो सकता है। नहीं तो द्विजों में पुनर्विवाह का विधान नहीं है। द्विजों में पति-पत्नी में से किसी के मर जाने आदि आपत्कालों में सन्तान की इच्छा होने पर नियोग किया जा सकता है[1]। द्विजों में पुनर्विवाह का निषेध इस अभिप्राय से किया गया है कि उन की शिक्षा-दीक्षा इस प्रकार से हुई है कि उन के लिये संयम का जीवन बिता सकना आसान होता है। आपत्-काल में उन की सन्तान की आवश्यकता की पूर्ति नियोग द्वारा हो ही जाती है। शूद्र, शूद्र इस लिये कहलाता है कि उसे अवसर दिये जाने पर भी वह शिक्षा-दीक्षा में उन्नति नहीं कर पाता है। उस की शिक्षा-दीक्षा ऊंची न होने के कारण शूद्र से संयम की उतनी आशा नहीं की जा सकती। इस लिये पति-पत्नी में से किसी की मृत्यु हो जाने पर शूद्रों में पुनर्विवाह का विधान कर दिया गया है। परन्तु द्विज पुनर्विवाह न कर

---

१. को वां शयुत्रा विधवेव देवरम्। ऋग्. १०. ४०. २॥ उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि। हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ। ऋग्. १०. १८. ८.॥ अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्। ऋग्. :०. १०. १०॥ इत्यादि वेदमन्त्रों में आचार्यों ने द्विजों के लिये नियोग का विधान बतलाया है। तथा—इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्। धर्मं पुराणमनु पालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं च धेहि॥ अथर्व. १८. ३. १॥ इत्यादि मन्त्रों में आचार्यों ने द्विजेतरों के लिये पुनर्विवाह का विधान बतलाया है।

के जीवन भर संयम से रहें यह अवस्था तभी आ सकती है जब कि समाज की रचना वर्णाश्रम-धर्म के आधार पर हो और समाज के रहन-सहन और शिक्षा-दीक्षा में संयम पर भारी बल दिया जाता हो। समाज-रचना ऐसी न होने की अवस्था में लोगों से संयम की उतनी आशा नहीं की जा सकती। आजकल की समाज-रचना उस प्रकार की नहीं है। आजकल के रहन-सहन और शिक्षा-दीक्षा में संयम पर वह बल नहीं दिया जाता। इस लिये आजकल के लोगों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे पति-पत्नी के मर जाने पर संयम से रहेंगे और पुनर्विवाह की आवश्यकता अनुभव नहीं करेंगे। संयम की दृष्टि से आजकल के लोग प्रायः सभी शूद्र ही हैं। इस लिये आजकल के संयमहीन युग में नियोग भी नहीं चल सकता और पुनर्विवाह की व्यवस्था के बिना भी काम नहीं चल सकता। इसी लिये वर्तमान युग में वैदिकधर्मियों ने पुनर्विवाह की—विधवा विवाह और विधुर विवाह की— पद्धति को स्वीकार कर लिया है। पुनर्विवाह अधर्म और पाप नहीं है, वह शूद्रों का धर्म है—कम संयम वाले लोगों का धर्म है।

पति की सम्पत्ति में पत्नी का अधिकार

विवाह के पीछे स्त्री और पुरुष के हृदय मिल कर एक हो जाते हैं। वह जो कुछ खाते, पीते और भोगते हैं मिल कर खाते, पीते और भोगते हैं। इसी अभिप्राय से अथर्व. १२. ३. ३९ में कहा गया है कि "हे पति और पत्नी ! जो तुम एक-दूसरे से छिपा कर खाते हो उसे मिला दो, मिल कर उस का उपभोग करो, तुम दोनों मिल कर अपने इस लोक को बनाओ[१]।" विवाह के उपरान्त पुरुष की सारी संम्पत्ति पर पत्नी का पूरा अधिकार हो जाता है। विवाह के समय पति, पत्नी को सम्बोधन कर के प्रतिज्ञा करता है—"हे पत्नी ! मैं तुझ से स्तेय कर के कुछ नहीं खाऊंगा[२]।" स्तेय का अर्थ होता है, किसी के अधिकारों को मार कर अपना स्वार्थ पूरा करना। पति कहता है, हे पत्नी ! मैं तेरे अधिकारों की परवाह न कर के संपत्ति का भोग नहीं करूंगा। प्रत्युत मुझे संपत्ति का भोग करते हुए तेरे अधिकारों का पूरा ध्यान होगा। मैं अपनी संपत्ति का इस प्रकार खर्च करूंगा कि मेरे जीते तुझे किसी प्रकार का कष्ट न हो। और मरते समय मैं उस का ऐसा प्रबन्ध करता जाऊंगा कि मेरे पीछे भी

१. यद्यज्जाया पचति त्वत्परः परः पतिर्वा जाये त्वत् तिरः।
सं तत् सृजेथां सह वां तदस्तु सम्पादयन्तौ सह लोकमेकम् ॥ अथर्व. १२. ३. ३९।
२. न स्तेयमद्मि। अथर्व. १४. १. ५७।

कोई तेरे अधिकारों को छीन न सके। अर्थात् मेरे घर में आने के बाद तेरे अधिकारों की पूरी रक्षा होगी--उन्हें कोई मार न सकेगा। इस से यह स्पष्ट निर्देश मिलता है कि पति को चाहिये कि वह अपनी पत्नी के लिये अपनी संपत्ति का कोई विशेष भाग निश्चित कर देवे जिस से पति के जीवनकाल में या उस के मर जाने के बाद कुटुम्ब के किसी व्यक्ति के हाथों उस की पत्नी को अपने अधिकारों से वंचित न होना पड़े तथा किसी प्रकार के क्लेश उसे न सहने पड़ें।

पति विवाह के समय इसी भाव को एक दूसरे प्रतिज्ञामन्त्र में और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में पत्नी के आगे रखता है। वह पत्नी से प्रतिज्ञा करता है कि--"हे पत्नी! आज से मैं जीवन-भर तेरा पालन-पोषण करूंगा, तू आज से मेरी पोष्य हो गई है[1]।" इस प्रतिज्ञा द्वारा पत्नी का जीवन-भर पालन-पोषण करने का भार पति अपने ऊपर लेता है। वह अपने जीते-जी और मरने के बाद भी अपनी सम्पत्ति का प्रबन्ध इस प्रकार का कर देगा कि पत्नी को किसी प्रकार कष्ट न हो, किसी अवस्था में भी उस के अधिकारों को हड़पा न जा सके। इस प्रकार पति अपनी सम्पत्ति में पत्नी के अधिकार को पूर्ण रूप से स्वीकार करता है। पति के मरने के बाद भी उस की सम्पत्ति में पत्नी का अधिकार बराबर बना रहता है यह बात भी वेद में स्पष्ट शब्दों में कही गई है। ऋग्वेद में एक जगह उपमा दी गई है कि "जिस प्रकार पति-विहीन विधवा पति के धन को प्राप्त करती है[2]।" वेद के इस वाक्य में पति की सम्पत्ति में विधवा के अधिकार का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है। वैदिक धर्म में पति की संपत्ति मैं पत्नी के अधिकार को सदा ही स्वीकार किया जाता रहा है। श्री द्वारकानाथ मिश्र एम. ए., डी. एल्. (M. A. D. L.) ने अपनी पुस्तक "दी पोज़िशन ऑफ़ विमेन इन हिन्दू लॉ" (The Position of Women in Hindu Law---हिन्दू-धर्मशास्त्रों में स्त्रियों का स्थान) में मीमांसा के आधार पर दिखाया है कि पत्नी पति की सम्पत्ति में समान अधिकारिणी है---पत्नी की सहमति के विना पति दान भी नहीं कर सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक धर्म में स्त्री की इतनी परवाह की जाती है कि पति उस के हृदय के साथ अपना हृदय मिला कर एक कर लेने की प्रतिज्ञा कर चुकने पर भी उस के अधिकारों की रक्षा के लिये उद्यत रहता है और अपनी सम्पत्ति में से एक विशेष भाग उस के लिये निश्चित कर देता है। यह सम्पत्ति का भाग किस

---

१. ममेयमस्तु पोष्या। अथर्व. १४. १. ५२।

२. परिवृक्तेव पतिविद्यमानट्। ऋग् १०. १०२. ११।

प्रकार और कितना निश्चित होगा यह विस्तार से वेद में नहीं बताया गया है। क्यों कि यह चीज़, देश, काल और अवस्थाओं के अनुसार बदलने वाली है। पति की सम्पत्ति में पत्नी के भाग का निश्चय करते हुए सन्तानों के भाग को भी ध्यान में रखना होगा। इस लिये पति की सम्पत्ति में पत्नी के भाग के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा न करते हुए वेद ने इतना ध्रुव तौर पर कह दिया है कि पत्नी पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी है, पत्नी का भली-भाँति पालन-पोषण करना और उस के अधिकारों की रक्षा करना पति का आवश्यक धर्म है।

इस प्रकार हम ने देखा कि वैदिक धर्म में स्त्री की विवाहित जीवन की स्थिति पुरुष से किसी प्रकार हीन और अपमानजनक नहीं है। प्रत्युत वह बड़ी प्रशस्त और गौरवमय है।

पिता की सम्पत्ति में पुत्री का अधिकार

इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व पिता की सम्पत्ति में पुत्री के अधिकार के सम्बन्ध में वेद की क्या सम्मति है इस सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना अप्रासंगिक न होगा। वेद के प्रसिद्ध व्याख्याकार आचार्य यास्क ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ निरुक्त के तृतीय अध्याय के ३–५ खण्डों में इस विषय पर बड़ा सुन्दर विचार किया है और वहाँ इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले अनेक वेद-मन्त्रों को उद्धृत किया गया है। वहाँ ऋग्. ३. ३१. १ मन्त्र को उद्धृत कर के उस के अर्थ पर विचार करते हुए यास्क ने लिखा है कि अनेक आचार्य इस मन्त्र से यह परिणाम निकालते हैं कि पुत्रों की भाँति ही पुत्री का भी अपने पिता की सम्पत्ति में भाग होना चाहिये, पुत्र और पुत्री समान रूप से पिता के दायाद अर्थात् सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हैं। वहाँ उन्होंने मनु का मत दिखाते हुए एक श्लोक[२] भी उद्धृत किया है जिस में कहा गया है कि मनु की सम्मति में पुत्र और पुत्री अपने पिता की सम्पत्ति के समान रूप से उत्तराधिकारी हैं। वहाँ यास्काचार्य ने अथर्व. १. १७. १ और ऋग्. १.१२४. ७ मन्त्रों[३] को उद्धृत कर

१. शासद् वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद् विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे॥ ऋग्. ३. ३१. १।

२. अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्॥

३. अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः।
अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः॥ अथर्व. १. १७. १।
अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः॥ ऋग्. १. १२४. ७।

के अपना मत यह दिखाया है कि जिन कन्याओं का कोई भाई न हो वे अपने पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होती हैं। ऋग्वेद के दूसरे मण्डल के १७ वें सूक्त में एक मन्त्र[1] आता है जिस मन्त्र में उपमा-वाक्य द्वारा यह कहा गया है कि पिता के घर में रहने वाली कन्या भाइयों के समान ही पिता की सम्पत्ति की अधिकारिणी होती है। इस प्रकार इस अंश में तो वेद का अभिप्राय अत्यन्त स्पष्ट है ही कि जिस कन्या का भाई न हो अथवा जो कन्या पिता के ही घर में रहे उस का अपने पिता की सम्पत्ति में अधिकार रहना चाहिये। और कई आचार्यों के अनुसार, जैसा कि यास्क ने लिखा है, ऋग्. ३. ३१. १ में यह उपदेश भी दिया गया है कि सभी कन्याओं का पिता की सम्पत्ति में भाइयों के समान ही अधिकार है। जैसा कि यास्क ने लिखा है कई आचार्य इस मन्त्र को कन्या के उत्तराधिकार में न लगा कर पुत्र के उत्तराधिकार में लगाते हैं। यदि इस मन्त्र के अर्थ में मतभेद हो और यह न भी माना जाये कि पिता की सम्पत्ति में विवाहित कन्या का भी अधिकार होता है तो भी कोई हानि नहीं है और न ही उस अवस्था में कन्याओं के साथ कोई अन्याय ही होता है, क्योंकि जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है विवाहित कन्याओं का अपने पतियों की सम्पत्ति में तो अधिकार रहेगा ही।

५

वेद और स्त्रियों की सामाजिक स्थिति

अब हम देखना चाहते हैं कि वैदिक धर्म में स्त्री की कुटुम्ब से बाहर की सामाजिक स्थिति किस प्रकार की रखी गई है।

परदा नहीं है

यहाँ प्रारम्भ में ही यह स्मरण रख लेना चाहिये कि वैदिक धर्म में परदे की जगह नहीं है। विवाह के बाद जब वधू पहले-पहल पति-घर में आती है तो पति-ग्राम के लोगों से पति के घर वाले कहते हैं—"यह कल्याण-मंगल-बढ़ाने वाली वधू हमारे घर में आई है, आओ इसे देखो[2]।" परदे का न होना स्त्री के सामाजिक जीवन की एक भारी रुकावट को हटा देता है। इस के न रहने से उस का समाज में स्वच्छन्दता से मिलना और विचरना (Free move-

१. अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम्।
कृधि प्रकेतमुप मास्या भर दद्धि भागं तन्वो येन मामहः॥ ऋग्. २. १७. ७।

२. सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत। अथर्व. १४. २. २८।

ment and free mixing in society) बहुत कुछ आसान हो जाता है।

स्त्रियें राजा और अन्य राज्याधिकारी भी बन सकती हैं

किन्तु वेद यहीं तक नहीं ठहरा है। अगर हम ऋषि दयानन्द-कृत ऋग्वेद और यजुर्वेद के भाष्यों को उठा कर देखें तो हमें वहां स्त्री की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में जो कुछ मिलता है वह अद्भुत है। वहाँ हम देखते हैं कि एक स्त्री चाहे तो सेना या पुलिस का सिपाही बन सकती है, प्राड्विवाक अर्थात् वकील बन सकती है, उपदेशक, अध्यापक और व्याख्याता बन सकती है, यहाँ तक कि वह एक देश का राष्ट्रपति या राजा भी चुनी जा सकती है। वेदों का स्वाध्याय जिन्होंने गम्भीरता से किया है उन्हें पता है कि वेद के राजनैतिक प्रकरणों में राष्ट्र का प्रबन्ध ठीक ढंग से चलाने के लिये प्रत्येक राज्य में "सभा" और "समिति" नाम की दो नियामक सभाओं (Legislative Chambers) के स्थापित करने की आज्ञा है। इन में समिति नामक सभा ऊंची और अधिक शक्तिशाली होती है। अथर्व. ७. ३८. ४ और १२. ३. ५२ में क्रमशः सभा और समिति में जाकर स्त्रियों के भाग लेने और बोलने का वर्णन आया है[१]। जब कोई स्त्री सभा और समिति में जाने के लिये चुनी जा सकती है तो वह राष्ट्र के किसी भी ऊंचे से ऊंचे पद को सुशोभित करने के लिये भी चुनी जा सकती है, यह स्पष्ट ही है।

यजुर्वेद के बीसवें अध्याय के प्रथम दस मन्त्रों में राजा के राज्यारोहण का वर्णन है। इन मन्त्रों में राज्यासीन हो रहा राजा अपने एक आलंकारिक शरीर का वर्णन कर रहा है। वह कह रहा है कि मैं राज्यासीन हो कर अपने राष्ट्र में अमुक-अमुक कल्याण-मंगल के कार्य करूंगा। वह अपने द्वारा राज्य में किये जाने वाले इन मंगल-कार्यों के साथ अपने आप को तन्मय कर लेने की भावना व्यक्त करता है। इस तन्मयता की भावना को प्रकट करने के लिये वह राज्य में अपने द्वारा किये जाने वाले एक-एक कार्य को गिना-गिना कर उसे अपने शरीर का एक-एक अङ्ग बताता जाता है। वह रूपक से प्रजा के कल्याण के लिये किये जाने वाले कार्यों को ही अपना शरीर बना लेता है। इस रूपक का अभिप्राय यह है कि राजा यह बताना चाहता है कि राज्यासीन हो जाने के पश्चात् मुझे अपने शरीर के सुख-आराम की चिन्ता नहीं होगी, मुझे तो प्रजा के भाँति-भाँति के कल्याण करने की ही चिन्ता होगी, अब से प्रजा का कल्याण

---

१. अहं वदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद। अथर्व. ७. ३८. ४।
यदक्षेषु वदा यत्समित्यां यद्वा वदा अनृतं वित्तकाम्यां। अथर्व. १२. ३. ५२।

ही मेरा स्वरूप हो जायेगा ! राजा प्रजा-कल्याण-रूप शरीर के अपने इस रूपक में पुरुष-शरीर के सब अङ्गों को तो गिनाता ही है, वह स्त्री के विशेष अङ्ग[1] को भी गिनाता है। राजा के शरीर के इस रूपक में पुरुष के विशेष अङ्ग के साथ स्त्री के विशेष अङ्ग को गिनाने का स्पष्ट रूप में यह संकेत है कि जिस प्रकार कोई पुरुष राजा चुना जा सकता है उसी प्रकार कोई स्त्री भी राजा चुनी जा सकती है, और जैसे राजा चुने गये किसी पुरुष को प्रजा के कल्याण में तन्मय हो जाना चाहिये उसी प्रकार राजा चुनी गई स्त्री को भी प्रजा के कल्याण में तन्मय हो जाना चाहिये। यजुर्वेद के इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि पुरुषों की भाँति स्त्रियें भी राजा या राष्ट्रपति चुनी जा सकती हैं। पाठकों को यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि वेद में निर्वाचित-राज-पद्धति को ही स्वीकार किया गया है आनुवंशिक एकतन्त्र राजपद्धति को नहीं।

वैदिक नारी की सामाजिक आकांक्षा

यहाँ ऋग्वेद के १० वें मण्डल के १५६ वें सूक्त का सारांश दिया जाता है। वैदिक धर्म में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को समझने में उस से अच्छी सहायता मिलेगी। एक गृहपत्नी प्रातःकाल उठते ही अपने उद्‌गार कहती है—"यह सूर्य उदय हुआ है, इस के साथ ही मेरा सौभाग्य भी ऊंचा चढ़ निकला है। मैं अपने घर और समाज की ध्वजा हूँ, उस की मस्तक हूँ। मैं भारी व्याख्यात्री हूँ। मेरे पुत्र शत्रु-विजयी हैं। मेरी पुत्री संसार में चमकती है। मैं स्वयं दुश्मनों को जीतने वाली हूँ। मेरे पति का असीम यश है। मैंने वह त्याग किया है जिस से इन्द्र (सम्राट्) विजय पाता है। मुझे भी विजय मिली है। मैंने अपने शत्रु निःशेष कर दिये हैं[2]।"

---

१. मेऽपचितिर्भसत्। यजुः. २०. ६.।

२. उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भगः।
अहं तद्विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहिः॥
अहं केतुरहं मूर्धाऽहमुग्रा विवाचनी।
ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत्॥
मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।
उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः॥
येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद् द्युम्न्युत्तमः।
इदं तदक्रि देवा असपत्ना किलाभुवम्॥
असपत्ना सपत्नघ्नी जयन्त्यभिभूवरी।
आवृक्षमन्यासां वर्चो राधो अस्थेयसामिव॥

वेद के इस सूक्त की व्याख्या की आवश्यकता नहीं है, वह स्वयं अत्यन्त स्पष्ट है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक धर्म में स्त्री की सामाजिक स्थिति पर किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं है। वह जो कुछ भी चाहे बन और कर सकती है। उसे अपनी शक्ति को विकसित कर के संसार में कुछ भी बनने और करने का अधिकार है जो कि पुरुष बन और कर सकता है। उस के सब क्षेत्रों में अधिकार पुरुष के समान हैं। जो कुछ पुरुष प्राप्त कर सकता है वह स्त्री भी प्राप्त कर सकती है। जहाँ पुरुष पहुँच सकता है वहाँ स्त्री भी पहुँच सकती है। दोनों के अधिकार समान हैं।

जहाँ तक स्त्री के अधिकारों का प्रश्न है वहाँ तक उन्हें कोई नहीं हड़प सकता। एक स्त्री अपनी इच्छा और शक्ति के अनुसार जो कुछ बनना चाहे बन सकती है। उसे रोका नहीं जा सकता। प्रत्युत समाज को उस की सहायता करनी होगी।

स्त्रियों का एक महान् कर्तव्य

परन्तु यदि हम स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी वेद के सारे प्रकरणों को मिला कर पढ़ें और उन की भिन्न-भिन्न शिक्षाओं का समन्वय करें तो हमें उन से एक विशेष निर्देश निकलता प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वेद स्त्रियों की सेवा में एक डेपुटेशन ले जाते हों और उन से कहते हों कि देवियो! अधिकार और हक की दृष्टि से तुम सर्वथा पुरुषों के समान हो, तुम्हारे हक छीने या रोके नहीं जा सकते। तुम जो चाहो बन सकती और कर सकती हो। इस में तुम्हारी सहायता की जायेगी। परन्तु हम तुम्हें आफिस की कुर्सियों, न्यायाधीशों के मंचों और राष्ट्रपतियों के सिंहासनों की ओर जाने से जान-बूझ कर मना करना चाहते हैं। हम इन सब कामों से ऊंचा एक काम तुम्हारे सुपुर्द करना चाहते हैं उसे तुम्हीं कर सकती हो। पुरुष उसे नहीं कर सकते। वह काम है मनुष्य-समाज को सच्चे और वास्तविक मनुष्य पैदा कर के देना।

सज्जनो! आज हमें घोड़ों की नस्ल की उन्नति करने के लिये अश्व-विशेषज्ञ (Horse-breeders) की आवश्यकता है, हम उन्हें तैयार करते हैं। गौओं की नस्ल और कुत्ते-बिल्लियों की नस्ल को उन्नत करने के लिये

समजैषमिमा अहं सपत्नीरभिभूवरी।
यथाहमस्य वीरस्य विराजानि जनस्य च ॥ ऋग्. १०. १५९। १–६।

इस सूक्त की व्याख्या हमारे ग्रंथ "वेदोद्यान के चुने हुए फूल" के पृष्ठ १५९–१६१ पर देखिये।

गो-विशेषज्ञ, कुत्ता-विशेषज्ञ (Cow-breeders, Dog-breeders) और बिल्ली-विशेषज्ञों (Cat-breeders) की आवश्यकता है, और हम उन्हें तैयार करते हैं। किन्तु आज हम मनुष्यों की नस्ल को उन्नत करने के लिये मानव-विशेषज्ञों (Man-breeders) की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते हैं। वेद कहता है, देवियो ! तुम मनुष्यों की नस्ल को उन्नत करने वाले मानव-विशेषज्ञों (Man-breeders) का काम करो। मनुष्य-समाज को सच्चे मनुष्य तैयार कर के देना मनुष्य-समाज की सब से भारी सेवा और सब से पवित्र कार्य है।

आप वेदों को पढ़ जाइये। वहाँ विवाह का एकमात्र उद्देश्य लम्पटता से बच कर सन्तान उत्पन्न करना बताया गया है। स्थान-स्थान पर स्त्री के लिये प्रजावती, पुत्रवती, प्रजाकामा, वीरसूः आदि विशेषणों का प्रयोग हुआ है। पचासों जगह उस से उत्तम सन्तान देने की प्रार्थनायें की गई हैं। वेद विवाह का प्रयोजन सन्तानोत्पत्ति बताते हुए स्त्रियों से इस प्रयोजन को विशेष रूप से पूरा करने का आग्रह क्यों करते हैं यदि यह जानना हो तो हमें ऋग्वेद के १० वें मण्डल का ४७वां सूक्त उठा कर देखना चाहिये। उस सूक्त में सन्तान के अभिलाषी परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो ! हमें अमुक-अमुक गुणों वाली सन्तान दीजिये। आप के विनोद के लिये उस सूक्त का सारांश यहाँ दिया जाता है—"हे परमात्मन् ! हम आप से एक धन मांगते हैं। वह धन है, सर्व-गुण सम्पन्न सन्तान। आप तो सभी धन देने वाले हैं। हम ने आपका दाहिना हाथ पकड़ लिया है। आप हमें गोपति, आयुधारी, रक्षा देने वाले, सन्मार्ग पर ले चलने वाले, क्रियाशील, भारी-भारी आपत्तियों से बचाने वाले, वेदज्ञ, देवों के गुण वाले, लम्बे-चौड़े सुडौल शरीर वाले, गम्भीर, ऋषियों की आज्ञा सुनने वाले, उग्र दुश्मनों का पराभव करने वाले, बल और अन्न के रक्षक, वीर, पार लगाने वाले, धनदाता, सुदक्ष, दस्युहन्ता, शत्रुओं के नगरों का भेदन करने वाले, सत्य-शील, घोड़ों वाले, रथों वाले, वीरों वाले, सैकड़ों और हज़ारों शक्तियों वाले, बलिष्ठ, सदाचारी लोगों से घिरा रहने वाले, सुख में रहने वाले और सुख देने वाले, पूर्णशक्ति से युक्त सातों इन्द्रियों वाले, ऋत को धारण करने वाले, सुमेधा, बृहस्पति अर्थात् बड़े-बड़ों के रक्षक या ज्ञानी, औरों को बुद्धि देने वाले, लोगों को सब से बढ़ कर आश्रय और सहायता दे सकने वाले, पुत्र-रूप धन को हमें दीजिये। हम आपकी हृदय से प्रार्थना करते हैं[1]।" सूक्त द्वारा प्रार्थना करने वाला

१. जगृभ्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं वसूयवो वसुपते वसूनाम्।
विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥

मानो गुणावली गिनाते-गिनाते थक जाता है पर उस का सन्तोष नहीं होता। आखिर वह दो विशेषण प्रयुक्त करता है—"चित्रं वृषणम्"—अद्भुत और वर्षा करने वाला। इस "चित्र" या अद्भुत में वे सारे गुण आ जाते हैं जो कि यहाँ गिनाये नहीं जा सके, और "वृषण" या वर्षा करने वाला विशेषण सन्तान में अभिलषित सारी परोपकार-भावनाओं की सूचना दे देता है। सूक्त के शब्दों में जो रस, सुन्दरता और भाव हैं उन्हें हम अपने शब्दों में नहीं ला सके हैं। जब इतनी ऊंची सन्तान प्राप्त करना हमारा ध्येय हो तो उस के लिये हमें विशेष यत्नशील होना पड़ेगा। मनुष्य-समाज को मनुष्यों का समाज रखने के लिये हमें उत्कृष्ट सन्तान की कितनी आवश्यकता है यह आसानी से समझा जा सकता है। उत्कृष्ट सन्तानें मनुष्य-समाज को देवियाँ ही दे सकती हैं। यह कार्य पुरुषों से साध्य नहीं है। इसी लिये वेद में स्त्रियों के उत्कृष्ट सन्तान पैदा करने के कर्तव्य पर सब से अधिक बल दिया गया है।

यहाँ यह न समझ लेना चाहिये कि स्त्रियों से उत्तम मनुष्य घड़-घड़ कर समाज को देने की प्रार्थना विशेष रूप से कर के वेद उन्हें सब प्रकार की शिक्षायें और विद्या-विज्ञान जानने से वंचित करना चाहता है। शिक्षा के क्षेत्र में वेद स्त्रियों की जो स्थिति रखता है वह हम ने ऊपर संक्षेप से अच्छी तरह

स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चतुःसमुद्रं धरुणं रयीणाम्।
चर्कृत्यं शंस्यं भूरिवारमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥
सुब्रह्माणं देववन्तं बृहन्तमुरुं गभीरं पृथुबुध्नमिन्द्र।
श्रुतऋषिमुग्रमभिमातिषाहमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥
सनद्वाजं विप्रवीरं तरुत्रं धनस्पृतं शूशुवांसं सुदक्षम्।
दस्युहनं पूर्भिदमिन्द्र सत्यमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥
अश्वावन्तं रथिनं वीरवन्तं सहस्रिणं शतिनं वाजमिन्द्र।
भद्रव्रातं विप्रवीरं स्वर्षामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥
प्र सप्तगुमृतधीतिं सुमेधां बृहस्पतिं मतिरच्छा जिगाति।
य आङ्गिरसो नमसोपसद्योऽस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥
वनीवानो मम दूतास इन्द्रं स्तोमाश्चरन्ति सुमतीरियानाः।
हृदिस्पृशो मनसा वच्यमाना अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥
यत् त्वा यामि दद्धि तन्न इन्द्र बृहन्तं क्षयमसमं जनानाम्।
अभि तद् द्यावापृथिवी गृणीतामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥

ऋग्. १०. ४७। १–८।

इस सूक्त की विस्तृत व्याख्या हमारे ग्रन्थ "वेदोद्यान के चुने हुए फूल" के पृष्ठ १५६–१५९ पर देखिये।

दिखा दी है। यहां तक वेद स्त्रियों की शिक्षा पर बल देता है कि विवाह के अवसर पर वेद कन्या के माता-पिता से दहेज में भी ऊंचे प्रकार की शिक्षा ही देने को कहते हैं। वस्तुतः देखा जाये तो सन्तानोत्पत्ति के मार्ग पर चलने वाली देवी को उच्च शिक्षा की भारी ग्रावश्यकता है। एक घड़ा बनाने वाले कुम्हार को घड़ा बनाने के लिये पहले घड़े ग्रौर मिट्टी के सम्बन्ध में कितना ज्ञान ग्रपेक्षित होता है यह हर एक जानता है। जो देवी मनुष्य बनाने का काम ग्रपने ऊपर लेना चाहती है उसे मनुष्य-स्वभाव (Human Nature) के विस्तृत ज्ञान की जो ग्रावश्यकता है इसे ग्राँखों से ग्रोझल नहीं किया जा सकता। किस समय मनुष्य-समाज को कैसे मनुष्यों की ग्रावश्यकता है यह समझ सकना ग्रौर उस के ग्रनुसार उपयुक्त मनुष्य पैदा कर के समाज को देना पूर्ण शिक्षित माताग्रों से ही बन सकता है। पूर्ण शिक्षित मातायें ही यह जान सकेंगी कि समय की ग्रावश्यकताग्रों के ग्रनुसार विशेष प्रकार के मनुष्य पैदा करने के लिये सन्तानों को किन परिस्थितियों में रखना चाहिये, उन पर कैसे संस्कार किस तरह डालने चाहियें। इसी लिये वेद स्त्रियों की शिक्षा पर पूरा बल देता है ग्रौर उन से ग्रपनी शक्तियों ग्रौर योग्यता को मनुष्य-समाज के कल्याण ग्रौर संसार की उन्नति के लिये उत्कृष्ट सन्तानें पैदा करने में लगाने की मानो प्रार्थना करता है। स्त्रियें ग्रपनी सारी योग्यता उत्तम सन्तानें तैयार करने में लगा दें। क्योंकि यह कार्य वे ही कर सकती हैं। पुरुष से यह कार्य बन नहीं सकता। ग्रौर पुरुष सब प्रकार की सांसारिक चिन्ताग्रों से स्त्रियों को मुक्त करने का भार ग्रपने ऊपर ले लें। किन्तु यह कभी न भूलना चाहिये कि जो देवियें सन्तानोत्पत्ति के मार्ग में न पड़ना चाहें—विवाहित जीवन में प्रवेश न करना चाहें—उन्हें पूरा ग्रधिकार है कि वे पुरुषों की तरह जो कुछ बनना चाहें बनें, जिस तरह समाज की सेवा करना चाहें करें। विवाहित स्त्री भी यदि सन्तान के प्रति ग्रपने कर्तव्यों में किसी तरह की कमी न ग्राने देते हुए समाज-सेवा का कार्य करना चाहे तो खुशी से कर सकती है।

सज्जनो! ग्रापकी सेवा में वैदिक धर्म में स्त्रियों की जो स्थिति है उसे दिखाने के लिये ये कुछ पंक्तियें उपस्थित की गई हैं। इस सम्बन्ध में ग्रभी बहुत कुछ कहा जा सकता है। पर समय ग्रौर स्थान इस की ग्राज्ञा नहीं देते। जो कुछ ग्रापने सुना है, मैं समझता हूँ, उस से ग्राप भली-भाँति जान गये होंगे कि वैदिक धर्म में स्त्रियों की स्थिति कितनी स्वतन्त्र, कितनी सन्मान-जनक ग्रौर कितनी गौरवमय है।

वेद और गो-पालन

१

वैदिक गृहस्थ के जीवन में गौ का स्थान

वैदिक गृहस्थ के जीवन में गौ का बहुत अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। गौ उस की एक बहुत प्यारी सम्पत्ति है। उसे जब कभी अपने भगवान् से ऐश्वर्य की प्रार्थना करनी होती है तो उस ऐश्वर्य में और-और वस्तुओं के साथ प्रायः गौ भी अवश्य सम्मिलित रहती है। पचासों स्थानों पर वेद में प्रभु-भक्त याचक द्वारा अपने भगवान् से गृहस्थ के अभीष्ट ऐश्वर्य में गौओं की अभ्यर्थना की गई है। वह एक नहीं, अनेक गौवें अपने पास रखना चाहता है। उदाहरण के लिये अथर्व. २. २६ में वह कहता है—

इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु । अथर्व. २. २६. २ ।

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम् ।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥

अथर्व. २. २६. ४ ।

आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं रसम् ।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् ॥

अथर्व. २. २६. ५ ।

प्रथम मन्त्रखण्ड का अर्थ है—"मेरे इस गौओं के ठहरने के घर में (गोष्ठं) पशु बह कर आवें"। अगले दोनों मन्त्रों का अर्थ देने से पहले इस वाक्य के सम्बन्ध में दो पंक्तियें और लिख देना आवश्यक है। सूक्त के प्रथम मन्त्र में जो पशु दिन के समय बाहर जंगल या खेतों में चरने चले गये थे उन्हें वापिस बुलाया जा रहा है। वे सुख-पूर्वक वापिस मेरे घर में आ जावें यह प्रार्थना की जा रही है। प्रस्तुत मन्त्रखण्ड उसी प्रसङ्ग में दूसरे मन्त्र का प्रथम चरण है। इस में पशुओं के लौट कर आने के लिये "सं स्रवन्तु" क्रिया का प्रयोग किया गया है। इस का शब्दार्थ है "बह कर आवें"। यह क्रिया उन वस्तुओं के चलने में प्रयुक्त होती है जो चलते हुए ऐसा प्रतीत हो कि मानो धारा में चल रहे हैं। जैसे, सेनाओं का चलना, नदियों आदि के पानी का बहना इत्यादि। यहाँ इस क्रिया के प्रयोग से यह अवगत होता है कि वापिस लौट कर आ रहे पशु एक, दो या दस-पाँच नहीं हैं, प्रत्युत वे इतने अधिक हैं कि चलते हुए उन का एक प्रवाह-सा आता हुआ प्रतीत होता है। लौट कर उन के घर में ठहरने के स्थान

को "गोष्ठ" कहा गया है। गोष्ठ का शब्दार्थ वह घर या स्थान है जहाँ गौवें ठहरें। इस शब्द के प्रयोग से यह व्यंजित होता है कि इन पशुओं में गौओं की प्रधानता है। गोष्ठ शब्द के प्रयोग से ही यह बात व्यक्त नहीं होती। ऊपर उद्धृत किये गये दोनों मन्त्रों से यह बात आप ही सुव्यक्त है। इन मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है—

"मैं गौवों के दूध को अपने शरीर में सिंचन करता हूँ, उन के घी से मैं अपने शरीर में बल और रस (वीर्यादि) सिंचन करता हूँ, उन के दूध और घी से हमारे घर के सारे ही वीर (पुरुष) सिंचित होते हैं, मुझ गोपति में गौवें स्थिर हो कर रहें।"

"मैं अपने इस घर (अस्तकम्) में गौओं का दूध लाता हूँ (आहरामि), धान्य और रस लाता हूँ, यहाँ वीर (पुरुष) आये हुए हैं और उन की पत्नियें आई हुई हैं।"

इन मन्त्रों में दूध-घी खाने के लिये "सिच्" क्रिया का प्रयोग हुआ है। इस का अर्थ सींचना होता है। खेतों और उद्यानों आदि को प्रभूत जल प्रदान कर के आप्लुत करने को सींचना कहते हैं। वैदिक गृहस्थ दूध-घी खाता नहीं, वह अपने आपको उस से सींचता है। वह छटाँक-दो-छटाँक या पाव-दो-पाव दूध-घी से तृप्त नहीं होता, उसे उस के कटोरे-के-कटोरे और घड़े-के-घड़े चाहियें। तभी तो हमारा घर "वीरों" और वीर-पत्नियों से भर सकता है। जिस घर के लोगों को अपने आपको दूध-घी से सींचना हो उन्हें एक दो गौवों से कहाँ सन्तुष्टि हो सकती है, उन्हें तो घर में बह कर आती हुई गौवों की धारा की आवश्यकता है।

इसी लिये जब गो-प्रिय वैदिक गृहस्थ अथर्व. ३. १२ में अपने रहने के लिये एक सुन्दर शाला (घर) का निर्माण करता है तो उस को और-और ऐश्वर्यों से भरने के साथ "गोमती · · · घृतवती पयस्वती" (अथर्व. ३. १२. २) और "घृतमुक्षमाणा" भी बनाता है। उस में गौवें रख कर उसे घी और दूध से भरना चाहता है, इतना भरना चाहता है कि वह हमारे लिये घी सिंचन करने वाली (उक्षमाणा) बन सके। वह अपनी शाला के सम्बन्ध में इच्छा रखता है कि उस में—

आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः।

अथर्व. ३. १२. ३।

एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः।　　अथर्व. ३. १२. ७।

"सायंकाल को बाहर से चर कर बछड़े और उछलती हुई गौवें आया करें।" "दही से लबालब भरे (परिस्रुत) कुम्भ और कलश रहा करें।" वह अपनी पत्नी को प्रतिदिन कहना चाहता है कि—

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामममृतेन संभृताम् ।
इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ।।

अथर्व. ३. १२. ८ ।

"हे नारि ! इस कुम्भ को अमृत से भरी हुई घी की धारा से पूरा भर ले और फिर इस अमृत से इन पीने वालों को खूब चिकने, सुन्दर और कान्तिमान् शरीर वाला बना (सम्-अङ्ग्ध), हमारे द्वारा किये हुए इष्ट और आपूर्त के शुभ कर्म इस घर की रक्षा करते रहें।"

अथर्ववेद के दो सूक्तों के इन उद्धरणों से पाठकों को यह स्पष्ट हो गया होगा कि अपने घी-दूध से उस के शरीर को सींच कर चिकना, सुन्दर, बलिष्ठ और कान्तिमान् बनाने वाली गौ और तज्जन्य पदार्थों से वैदिक गृहस्थ को कितना प्रेम है और वह उन्हें कितनी भारी मात्रा में अपने पास रखना चाहता है। यहाँ और भी कितने ही उद्धरण इस भाव को स्पष्ट करने के लिये दिये जा सकते थे। हम विस्तारभय से ऐसा नहीं करना चाहते और इस की कोई आवश्यकता भी नहीं है। वेद का प्रत्येक पारायण करने वाला जानता है कि वैदिक आर्य गृहस्थ के लिये गो-धन की कितनी कीमत है और वह धन को पाने के लिये कितना उत्सुक रहता है और भगवान् से इस के लिये कितनी प्रार्थनायें करता है। साधारण दृष्टि से भी वेद की एक बार आवृत्ति कर लेने से यह बात विदित हो सकती है।

गौओं के लिये राष्ट्रिय प्रार्थना

न केवल वेद का प्रत्येक गृहस्थ ही अपने लिये वैयक्तिक रूप में भगवान् से गो-धन की याचना करता है प्रत्युत कई स्थलों पर सारे राष्ट्र के लोगों के लिये भी गो-धन की याचना की गई है। उदाहरण के लिये यजुर्वेद का निम्न मन्त्र देखिये—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ।

यजुः. २२. २२ ।

जिस अध्याय का यह मन्त्र है उस का शतपथ में अश्वमेध में विनियोग किया गया है। अध्वर्यु इस मन्त्र द्वारा अश्वमेध करने वाले सम्राट् के राष्ट्र में अभ्युदय की प्रार्थना भगवान् से कर रहा है। वह कहता है—"हे भगवन् (ब्रह्मन्), इस के राष्ट्र में ब्रह्मतेज वाले ब्राह्मण उत्पन्न हों, शस्त्र चलाने में निपुण, दूर का निशाना बींधने वाले, महारथी, शूर क्षत्रिय उत्पन्न हों, दूध देने वाली गौवें उत्पन्न हों, भार उठाने में समर्थ बैल हों, शीघ्रगामी घोड़े हों, नगरों की रक्षा करने वाली (पुरंधिः) स्त्रियें हों, इस यजमान (सम्राट्) के पुत्र (वीरः) विजयी, रथारोही, सभाओं में जाने योग्य और युवा हों, जब-जब हम चाहें तब-तब बादल बरसा करें, अनाज (ओषधयः) फल वाले हो कर पका करें, हमें अलब्ध ऐश्वर्य की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा (योगक्षेमः) प्राप्त हो"। मन्त्र में उत्पन्न होने के लिये "आ जायताम्" क्रिया का प्रयोग हुआ है। इस में "आ" उपसर्ग की व्यंजना देखने योग्य है। "आ" का अर्थ होता है "समन्तात्"—"चारों ओर"। इस लिये "आ जायताम्" क्रिया का भाव यह हुआ कि मन्त्र में वर्णित ब्राह्मणादि एक दो नहीं, प्रत्युत राष्ट्र में चारों ओर—कोने-कोने में—उन का प्रादुर्भाव हो। पाठक स्पष्ट देख रहे हैं कि राष्ट्र के इस ऐश्वर्य की प्रार्थना में "दूध देने वाली गौवों" को भी साथ रखा गया है।

२

राज्य और गो-पालन तथा गोपालन के सम्बन्ध में वेद के निर्देश

जिन गौओं का राष्ट्र के व्यक्तियों को वीर और बलिष्ठ बनाने में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसी लिये जो राष्ट्र के ऐश्वर्य का एक अत्यन्त आवश्यक अङ्ग हैं, उन गौवों का राष्ट्र के घरों में उचित भरण-पोषण हो रहा है कि नहीं इस का सदा निरीक्षण रखना वेद में राज्य का भारी कर्तव्य बताया गया है। राजा के इस कर्त्तव्य का अनेक स्थानों पर निर्देश मिलता है। उदाहरण के लिये ऋग्. ६. २८ का निम्न सूक्त देखिये। इस में गो-पालन के सम्बन्ध में कई सुन्दर शिक्षाओं का वर्णन करते हुए इस सम्बन्ध में राजधर्म का भी इशारे से निर्देश कर दिया गया है। सूक्त इस प्रकार है—

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः ॥१॥
इन्द्रो यज्वने पृणते च शिक्षत्युपेद् ददाति न स्वं मुषायति।
भूयोभूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये नि दधाति देवयुम् ॥२॥
न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
देवाँश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित् ताभिः सचते गोपतिः सह ॥३॥

न ता अर्वा रेणुककाटो अश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि ।
उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः ॥४॥
गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छान् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः ।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामीद्धृदा मनसा चिदिन्द्रम् ॥५॥
यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम् ।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वय उच्यते सभासु ॥६॥
प्रजावतीः सूयवसं रिशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।
मा वः स्तेन ईशत माघशंसः परि वो हेती रुद्रस्य वृज्याः ॥७॥
उपेदमुपपर्चनमासु गोषूप पृच्यताम् ।
उप ऋषभस्य रेतस्युपेन्द्र तव वीर्ये ॥८॥

सूक्त के मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

"(गावः) गौवें (आ अग्मन्) आवें (गोष्ठे) हमारे गोष्ठ अर्थात् गौवों के रहने के स्थान में (सीदन्तु) बैठें अर्थात् रहें (उत) और (भद्रं) हमारे लिये मंगल (अक्रन्) करें (अस्मे) हम में रहती हुई (रणयन्तु) रमण करें अर्थात् आनन्दपूर्वक रहें (इह) यहाँ हमारे घर में ये गौवें (प्रजावतीः) सन्तानों वाली हो कर (पुरुरूपाः) बहुत रूपों वाली अर्थात् अनेक प्रकार की (स्युः) होती रहें और इस प्रकार (इन्द्राय) सम्राट् के लिये (पूर्वीः) बहुत (उषसः) उषःकालों अर्थात् दिनों तक (दुहानाः) दूध देने वाली बनी रहें ॥१॥"

इस मन्त्र से निम्न उपदेश मिलते हैं—

१. हर एक गृहस्थ के घर में गोष्ठ अर्थात् गौवों के रहने का स्थान भी अवश्य रहना चाहिये। कोई घर गौवों के बिना न रहे। गौ पाल कर सब को अपना भद्र करना चाहिये।

२. गौ पालने वालों को इस प्रकार उन की संतानें उत्पन्न करानी चाहियें कि उन से अनेक प्रकार की उत्तमोत्तम गौवें तैयार हो सकें, जिन में पहले की अपेक्षा अधिक दूध और मक्खन उत्पन्न होता हो, अधिक बलिष्ठ बछड़े और बछड़ियें उत्पन्न होते हों, तथा रूपाकृति की सुन्दरता-विविधता भी पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ती जावे। यह सब भाव **"प्रजावतीः पुरुरूपाः"** इन दो शब्दों का है।

३. "इन्द्र के लिये दूध देने वाली बनी रहें" इस वाक्य से यह भाव प्रतीत होता है कि गौवों से जो भी दूध-घी की आय गृहस्थों को हो उस में कुछ भाग राज्य का भी रहना चाहिये।

४. "हम में रहती हुई रमण करें" इस वाक्य की ध्वनि यह है कि जिस प्रकार घर के मनुष्य मिल कर आनन्द से रहते हैं उसी प्रकार हमारी गौवें भी हम में मिल कर आनन्द से रहें। हम अपनी गौवों को अपने जैसा ही समझें और अपने जैसी ही उन के आराम की चिन्ता करें।

"(इन्द्रः) सम्राट् (यज्वने) राज्य-संघटन के लिये अपना भाग दान करने वाले, और इस प्रकार (पृणते) राज्य की आवश्यकताओं की तृप्ति करने वाले के लिये (शिक्षति) अपनी रक्षा देता है, (उपेद्दाति) और समीप पहुँच कर देता है, (स्वं) उस के धन को (न मुषायति) अपहरण नहीं करता या नहीं होने देता (अस्य) इस के (रयिं) धन को (भूयः भूयः) बार-बार (वर्धयन् इत्) बढ़ाता हुआ (देवयुम्) सम्राट् रूप देव को अर्थात् राज्य के भले को चाहने वाले इस को (अभिन्ने) अभेद्य (खिल्ये) स्थान में (निदधाति) रखता है ॥२॥"

यहाँ प्रसंग गौवों का चल रहा है। इस लिये मन्त्र में प्रयुक्त धन शब्द का अर्थ गौ समझना चाहिये। जो व्यक्ति अपने गो-धन की आय में से राज्य को अपना देयांश देता रहता है, राज्य उस की गौवों की रक्षा करता है और उन पर किसी प्रकार का आक्रमण नहीं होने देता, यह मन्त्र का भावार्थ है। प्रथम मन्त्र में **"इन्द्राय दुहानाः"** इन शब्दों में जो बात संक्षेप से कही गई थी वही इस मन्त्र में आ कर अधिक स्पष्ट हो गई है और सम्राट् द्वारा गो-धन की आय का कुछ अंश लेने का प्रयोजन भी स्पष्ट हो गया है। राज्य को क्योंकि गौवों की विशेष रक्षा और परवाह करनी है इस लिये प्रत्येक गृहस्थ से एक विशेष गो-कर भी राज्य ले सकेगा।

"भूयो भूयो रयिमिदस्य वर्धयन्" इस वाक्य का भाव यह है कि जिन से लोगों के गो-धन की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रह सके ऐसे उपाय सर्वसाधारण को बताते रहना राज्य का एक कर्त्तव्य होगा। गोपालन और गोसंवर्धन के विशेषज्ञ रख कर राज्य को यह कार्य कराते रहना होगा। तभी उस के लिये लोगों से गो-कर लेना संगत हो सकेगा।

"(ताः) वे गौवें (न नशन्ति) नष्ट नहीं होतीं (तस्करः) चोर, उन पर (न दभाति) प्रहार नहीं करता (अमित्रः) शत्रु का (व्यथिः) पीड़ा देने वाला शस्त्रादि (आसां) इन का (न आदधर्षति) धर्षण नहीं करता (याभिः) जिन से (देवान्) देवों का (यजते) यजन करता है— अर्थात् जिन की आय से राज्य के संचालक देवों को राज्य-संघटन के लिये कुछ अंश दिया जाता है अथवा जिन के घृतादि से अग्निहोत्रादि यज्ञ किये जाते हैं

(च) और (ददाति) अतिथि आदि को घृत-दुग्धादि का दान करता है (ताभिः) उन के (सह) साथ (गोपतिः) गोपालक गृहस्थ (सचते) देर तक संयुक्त रहता है ॥३॥"

क्यों कि सम्राट् द्वारा रक्षा प्राप्त होती है इस लिये——

१. गौवें नष्ट नहीं होने पातीं। राज्य की ओर से गौवों में रोग न होने देने के और रोग हो जाने की अवस्था में उन्हें फैलने न देने के उपाय होते रहते हैं।
२. किसी की गौ को चोर नहीं चुरा सकते।
३. शत्रु लोग उन को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं दे सकते।
४. और इस प्रकार गोपालक गृहस्थ के पास उस की गौवें सदा बनी रहती हैं।
५. पाँचवी शिक्षा इस मन्त्र से यह मिलती है कि गोपति को, गृहस्थ को, अपनी गौवों से सदा देवों का यजन और अतिथि आदि का सत्कार करते रहना चाहिये। देवों के यजन का भाव हम ने मन्त्र के अर्थ में ही संक्षेप से समझा दिया है।

"(ताः) उन गौवों को (रेणुककाटः) धूल उड़ा कर आता हुआ (अर्वा) शत्रु का घोड़ा (न अश्नुते) प्राप्त नहीं हो सकता (ताः) वे गौवें (संस्कृतत्रम्) किसी प्रकार की हिंसा या सूनागृह की (अभि) ओर (न उपयन्ति) नहीं जातीं (तस्य) उस (यज्वनः) यज्वा (मर्तस्य) पुरुष की (ताः) वे गौवें (अभयं) अभय हो कर (उरुगायं) फिरने के विस्तृत देशों में (अनुविचरन्ति) विचरण करती हैं। मन्त्र में अर्वा का अर्थ हिंसक भी हो सकता है क्योंकि "ऋ" धातु के गति और हिंसा दोनों अर्थ होते हैं। तब अर्थ यह होगा कि धूल उड़ा कर आता हुआ कोई व्याघ्रादि हिंसक पशु उन्हें प्राप्त नहीं कर सकता ॥४॥"

क्योंकि राज्य की ओर से रक्षा का पूरा प्रबन्ध रहता है इस लिये——

१. शत्रुओं के घुड़सवार आ कर उन्हें भगा कर नहीं ले जा सकते।
२. अथवा व्याघ्रादि हिंसक पशु जंगलों में उन पर आक्रमण नहीं कर सकते।
३. किसी प्रकार की दूसरी हिंसा भी उन्हें प्राप्त नहीं हो सकती अर्थात् कोई पुरुष उन्हें मार नहीं सकता और वे सूनागृह (Slaughter House) आदि में वध होने के लिये भी नहीं भेजी जा सकतीं।
४. वे निर्भय हो कर चरने के लिये जंगलों में दूर-दूर विचरण करती हैं।

मन्त्र में आये यज्वा शब्द का भाव हम ऊपर द्वितीय मन्त्र की व्याख्या में स्पष्ट कर आये हैं।

"(इन्द्रः) सम्राट् (मे) मुझे (गावः) गौवें (अच्छान्) देवे (गावः) गौवें (भगः) धन हैं (गावः) गौवें (प्रथमस्य) उत्कृष्ट (सोमस्य) सोम का (भक्षः) भक्षण हैं (जनासः) हे मनुष्यो, (इमाः) ये (याः) जो (गावः) गौवें हैं (सः) वे (इन्द्रः) परमैश्वर्य हैं (हृदा) हृदय और (मनसा) मन से (इन्द्रं) इस परमैश्वर्य को (चित्) ही (इच्छामि) चाहता हूँ ॥५॥"

"मुझे इन्द्र गौवें देवे" इस वाक्य से यह प्रतीत होता है कि गौवों के क्रय-विक्रय पर राज्य का पूरा नियन्त्रण रहना चाहिये। कोई व्यक्ति जो गाय खरीदे उसे पहले राज्य के विशिष्ट कर्मचारी देख लें कि उस में किसी प्रकार का रोग या कोई भयंकर त्रुटि तो नहीं है। जब वे उस के दूध को प्रयोग में लाने योग्य कह दें तभी वह गृहस्थ के घर में जा सकती है। क्योंकि कोई गौ राज्य की अनुमति के बिना क्रय नहीं की जा सकती इस लिये आलंकारिक ढंग में यह कहा जा सकता है कि सम्राट् हमें गौवें देता है। पाठक देखें कि वैदिक राज्य में नागरिकों के स्वास्थ्य की चिन्ता का कितना भार राज्य पर डाला गया है।

गौ का दूध-दही सोम है

गौवों को "उत्कृष्ट सोम का भक्षण" इस लिये कहा गया है कि उन से ही दूध, दही और घी जैसे उत्कृष्ट सोम पदार्थ प्राप्त होते हैं। वैदिक साहित्य में कई स्थानों पर दूध-दही आदि को भी सोम कहा गया है। उदाहरणार्थ **"सोमो वै दधि"** (कौ. ८. ६) **"सोमः पयः"** (श. १२. ७. ३. १३), **"रसः सोमः"** (श. ७. ३. १. ३) ब्राह्मण के इन वाक्यों में दूध-दही और घृतादि रसों को विस्पष्ट रूप में सोम शब्द से अभिहित किया गया है। यों प्रसिद्ध सोम ओषधि को भी गौ के दूध-घी के साथ मिला कर भक्षण किया जाता है। सोम में गौ के दूध-घी को मिला देने से और भी अधिक उत्कृष्टता आ जाती है। जो लोग वेद के सोम का अर्थ शराब करते हैं, वेद के इस वर्णन से उन के मत का खण्डन हो जाता है। यहाँ गौ के दूध-दही आदि को सोम कहा गया है। सोम वास्तव में एक ओषधि का नाम है जो स्फूर्तिदायक, शक्ति और बुद्धि की वर्धक होती है और जिस में मादकता बिल्कुल नहीं होती। गौ के दूध-दही में ये गुण होने के कारण उन्हें भी सोम कह दिया गया है।

"गौवें इन्द्र हैं" इस वाक्य में हम ने "   परमैश्वर्य किया है। पहले वाक्य में इन्द्र (सम्राट्) से गौवें देने की प्रार्थना है। इस वाक्य में गौवों को ही इन्द्र बना दिया है। इस लिये इस वाक्य में इन्द्र का अर्थ सम्राट् से

भिन्न कोई दूसरा होना चाहिये। गौवें तो स्वयं सम्राट् हो नहीं सकतीं। यदि इन्द्र देवता का अर्थ परमात्मा करें तो गौवें परमात्मा भी नहीं हो सकतीं। और इसी प्रकार इन्द्र का प्रसिद्ध पौराणिक अर्थ होने पर वे वैसा इन्द्र भी नहीं हो सकतीं। इस लिये हमें यहाँ अगत्या इन्द्र के धात्वर्थ की सहायता से उस का परमैश्वर्य ऐसा अर्थ करना पड़ता है। इन्द्र को ब्राह्मण में एक स्थान पर **"रुक्म एवेन्द्रः"** (श. १०. ४. १. ६) ऐसा कह कर सुवर्ण के अर्थ में ग्रहण भी किया गया है। सुवर्ण क्योंकि परमैश्वर्य की वस्तु है इसी लिये उसे इन्द्र कहा है। वेद की दृष्टि में गौवें भी एक प्रकार का धन हैं और उत्कृष्ट कोटि का धन हैं इस लिये गौणी वृत्ति से उन्हें इस मन्त्र में इन्द्र कह दिया गया है जिस से मन्त्र में काव्य का एक विशेष चमत्कार आ गया है। जो स्वयं इन्द्र (परमैश्वर्य) हैं उन्हें इन्द्र (परमैश्वर्यवान् सम्राट्) से माँगा जा रहा है।

इस मन्त्र में गौवों को "भग" और "इन्द्र" कहा है। इन दोनों शब्दों का जो वास्तविक और बुद्धि-संगत अभिप्राय है वह ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है। "भग" और "इन्द्र" वेद के तथा पुराणों के प्रसिद्ध देवताओं में से हैं। यहाँ गौवों के लिये भी ये नाम प्रयुक्त हो गये हैं। इसी से, वेद का वास्तविक आशय न समझने के कारण, प्रतीत होता है गौ में देवत्व की वह कल्पना कर ली गई है जो प्रचलित हिन्दू-धर्म में पाई जाती है।

"(गावः) हे गौवो, (यूयं) तुम (कृशं चित्) पतले-दुबले पुरुष को भी (मेदयथ) स्निग्धता प्रदान कर के मोटा कर देती हो (अश्रीरं चित्) सुन्दरता-रहित को भी (सुप्रतीकम्) सुन्दर अङ्गों वाला (कृणुथ) कर देती हो (भद्रवाचः) हे भद्रवाणी वाली गौवो, (गृहं) हमारे घर को (भद्रं) कल्याण युक्त (कृणुथ) कर दो (सभासु) सभाओं में (वः) तुम्हारे (बृहत्) बहुत (वयः) अन्न का (उच्यते) बखान किया जाता है ॥६॥"

इस मन्त्र से निम्न बातों पर प्रकाश पड़ता है—

१. गौ के दुग्ध और घृत के सेवन से पतले-दुबले शरीर मोटे-ताजे बन जाते हैं।
२. जो सुन्दर नहीं हैं उन के शरीर में गौ के दुग्ध का सेवन करने से स्वास्थ्य-जनित सुन्दरता आ जाती है।
३. जिस घर में गौवें रहती हैं और उन के दुग्ध का सेवन होता है वह घर कल्याण और मंगल से भर जाता है।
४. गौओं में बड़ा अन्न है। इन के दुग्ध, दही, मक्खन आदि में बड़ी उत्कृष्ट श्रेणी की अन्नशक्ति है। इन की इस अन्न-शक्ति का सभाओं में बखान हो सकता है। उन में विद्वानों के व्याख्यान हो सकते हैं, जिन में घण्टों तक

गौ के दुग्धादि के गुणों का वर्णन किया जा सकता है। इन के दुग्धादि के गुणों पर पुस्तकें लिखी जा सकती हैं।

"(सूयवसं) उत्तम घास को (रिशन्तीः) खाती हुई (सुप्रपाणे) उत्तम पानी पीने के स्थानों में (शुद्धाः) निर्मल (अपः) जल (पिबन्तीः) पीती हुई हे गौवो, तुम (प्रजावतीः) पुत्र पौत्रों से युक्त हो कर रहो (स्तेनः) चोर और (अघशंसः) पाप करने वाला पुरुष (वः) तुम पर (मा) मत (ईशत) प्रभुता कर सके (रुद्रस्य) परमात्मा का (हेतिः) प्रहरण (वः) तुम्हें (परिवृज्याः) छोड़े रखे अर्थात् तुम शीघ्र न मरो प्रत्युत दीर्घ आयु वाली होओ ॥७॥"

इस मन्त्र से निम्न बातें ज्ञात होती हैं—

१. गोवों को जो घास आदि खाने को दिया जाये वह बहुत उत्तम हो। सड़ा-गला, मैला, पुराना और बोदा घास उन्हें खाने को न दिया जाये।
२. उन के पीने का पानी भी अति निर्मल होना चाहिये। गदला और किसी तरह के मैलेपन और अपवित्रता से युक्त पानी उन्हें पीने को न दिया जाये।
३. ऐसा करने से उन की सन्तानें उत्तम होंगी। दुर्बल और क्षीण बछड़े-बछड़ी उत्पन्न नहीं होंगे।
४. ऐसा करने से वे देर तक जी सकेंगी। परमात्मा का मृत्यु-रूप शस्त्र उन पर जल्दी नहीं गिरेगा।
५. हमें अपनी गौओं की चोर-डाकुओं से रक्षा करनी चाहिये। ऐसा उत्तम प्रबन्ध रखना चाहिये कि हमारे इस उत्कृष्ट धन को वे पापी लोग हम से अलग न कर सकें। इस का एक उपाय ऊपर द्वितीय और तृतीय मन्त्र में बताया गया है अर्थात् सम्राट् को इस का प्रबन्ध करना चाहिये। प्रजा-जनों को इस के लिये राज्य को गो-कर देना चाहिये।

"(आसु) इन (गोषु-उप) गौओं में (इदं) यह जो (उप-पर्चनम्) बैल के समीप जा कर मिलने का गुण या इच्छा है (ऋषभस्य) और बैल के (रेतसि) वीर्य में (उप) जो गौओं के पास जाकर मिलने का गुण है वह (इन्द्र) हे सम्राट्, (तव) तेरे (वीर्ये) पराक्रम में अर्थात् तेरे पराक्रम की अधीनता में (उप-उपपृच्यताम्) मिले ॥८॥"

इस मन्त्र में यह स्पष्ट है कि सन्तानेच्छा के समय गौ और बैल अपनी इच्छा से न मिल सकें। ऐसा नहीं होना चाहिये कि किसी भी गौ को किसी भी बैल से मिला कर सन्तान उत्पन्न कराई जा सके। प्रत्युत यह क्रिया सम्राट् के

पराक्रम के अधीन होनी चाहिये। राज्य की शक्ति का इस पर पूरा नियन्त्रण रहना चाहिये। वे ही साँड सन्तान उत्पन्न कर सकें जिन्हें राज्य के इस विभाग के विशेषज्ञ स्वीकृत कर चुके हों। और ऐसे साँडों से मिलाने से पहले प्रत्येक गोपति गृहस्थ को अपनी प्रत्येक गौ की राज्य के इन विशेषज्ञों से परीक्षा करानी होगी। जो गौ इन द्वारा सन्तान उत्पन्न कराने के योग्य समझी जायेगी वही उन परीक्षित साँडों से मिलने दी जायेगी। गौओं पर राष्ट्र के स्वास्थ्य और बल-वीर्य की निर्भरता है, इस लिये बीमार और दुर्बल गाय और साँड मिल कर दुर्बल बच्चे और शक्ति-हीन दुग्ध पैदा न कर सकें इस का राज्य को पूरा नियन्त्रण करना होगा। इस मन्त्र के ही भाव को वेद के अन्य स्थलों में दूसरे शब्दों में भी स्पष्ट किया गया है। उदाहरण के लिये अथर्व. १३. १. १९ में राजा से प्रार्थना की गई है, "**वाचस्पते · · · · गोष्ठे नो गा जनय**"—"हे वाचस्पति राजन्! हमारे गोष्ठ में गौवें उत्पन्न कराइये।" राजा द्वारा हमारे गोष्ठ में गौवें उत्पन्न कराने का यही भाव है कि हमारी गौओं की सन्तानोत्पत्ति पर राज्य का नियन्त्रण रहना चाहिये। उस के इस विषय के विशेषज्ञ कर्मचारियों की अनुमति प्राप्त किये बिना किसी गृहपति की गौवें सन्तान उत्पन्न न कर सकें। अथर्व. १३. १ के प्रारम्भिक मन्त्रों में राजा के राज्यासीन होने का वर्णन है। राज्यासीन हो रहे राजा को ही इस मन्त्र में वाचस्पति शब्द से कहा है, क्योंकि वह राष्ट्र की वाणी और तदुपलक्षित ज्ञान का रक्षक होता है अथवा स्वयं उत्कृष्ट व्याख्याता होता है।

अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड का २१ वाँ सूक्त भी हलके शाब्दिक परिवर्तन के साथ वही है जो ऋग्. ६. २८ है। अथर्ववेद के सूक्त में ऋग्वेद के सूक्त का केवल ८ वाँ मन्त्र नहीं है। पाठक देखें वेद के इन मन्त्रों में गृहस्थ के लिये गोपालन का कितना महत्त्व और उस की कितनी उपयोगिता बताई गई है और इसी लिये उस पर राज्य का कितना नियन्त्रण रखा गया है। इसी प्रसङ्ग में ऋग्. १०. १६९ सूक्त भी देखने योग्य है—

मयोभूर्वातो अभि वातूस्रा ऊर्जस्वतीरोषधीरा रिशन्ताम्।
पीवस्वतीर्जीवधन्याः पिबन्त्ववसाय पद्वते रुद्र मृड ॥१॥
याः सरूपा विरूपा एकरूपा यासामग्निरिष्टचा नामानि वेद।
या अङ्गिरसस्तपसेह चक्रुस्ताभ्यः पर्जन्य महि शर्म यच्छ ॥२॥
या देवेषु तन्वमैरयन्त यासां सोमो विश्वा रूपाणि वेद।
ता अस्मभ्यं पयसा पिन्वमानाः प्रजावतीरिन्द्र गोष्ठे रिरीहि ॥३॥

प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः ।
शिवाः सतीरुप नो गोष्ठमाकस्तासाँ वयं प्रजया संसेदम ॥४॥

मन्त्रों का अर्थ क्रमशः प्रकार है--

"(मयोभूः) सुख देने वाला (वातः) वायु (उस्राः) गौओं की (अभिवातु) ओर चले, ये गौवें (ऊर्जस्वतीः) बल वाली या रसीली (ओषधीः) ओषधियों को (आरिशन्ताम्) खायें (पीवस्वतीः) मोटा करने वाले और (जीवधन्याः) जीवन देने वाले जलों का (पिबन्तु) पान करें (रुद्र) हे रुद्र, (पद्वते) पैरों वाले (अवसाय) हमारे अन्न, अर्थात् गौवों के लिये (मृड) सुख कीजिये ॥१॥

इस मन्त्र से निम्न निर्देश मिलते हैं--

१. गौवों के रहने के स्थान ऐसे होने चाहियें जहाँ उन्हें सुख देने वाला स्वच्छ निर्मल वायु निरन्तर मिलता रहे। इस से यह भी ध्वनित होता है कि ऐसा वायु प्रभूत मात्रा में मिल सके इस के लिये उन्हें दिन में जंगलों और खेतों में चरने के लिये भी भेजना चाहिये।
२. उन्हें जो ओषधि अर्थात् घास खाने को दी जावें वे बल-वर्धक और स्वादु रस से भरी होनी चाहियें। ओषधि शब्द की यह भी ध्वनि है कि गौवों के बल और स्वास्थ्य की वृद्धि के लिये उन्हें उपयुक्त रासायनिक ओषधियें भी खिलाते रहना चाहिये।
३. गोवों के पीने का पानी गन्दा, मैला, सड़ा, पुराना न हो प्रत्युत जीवन देने वाला और उन्हें मोटा-बलिष्ठ करने वाला स्वच्छ, ताज़ा और पवित्र होना चाहिये।
४. "रुद्र" वेद में कई अर्थों में प्रयुक्त होता है। रोग निवारक वैद्य के अर्थ में भी इस का प्रयोग हुआ है और सेनापति के अर्थ में भी। परमात्मा के वाचक तो सभी देवतावाची पद प्रायः हैं ही। वैद्य अर्थ में रुद्र द्वारा गौवों के सुखी किए जाने का भाव यह होगा कि ऐसे वैद्यों का प्रबन्ध भी रहना चाहिये जो गौवों के रोगों को दूर कर के उन्हें सुखी करते रहें। सेनापति अर्थ में भाव यह होगा कि राज्य की सेनाओं का प्रबन्ध ऐसा होना चाहिये कि जब हम चाहें तभी हमें उन की रक्षा प्राप्त हो सके जिस से कोई दुष्ट हमारी गौवों को और इसी लिये हम को दुःखी न कर सके। परमात्मा तो सभी रोगों और सभी दुःखों के नाशक हैं इस लिये उस अर्थ में तो प्रार्थना का भाव स्पष्ट ही है। सायण ने यहाँ रुद्र का अर्थ ज्वरादि-नाशक देव ही किया है। रुद्र के प्राण, अग्नि आदि भी अर्थ होते हैं। उन की संगति भी

यहाँ लग सकती है। पर विस्तार भय से हम इतनी दूर तक नहीं जाते।

"(याः) जो (सरूपाः) समान रूप वाली हैं (विरूपाः) विभिन्न रूप वाली हैं (एकरूपाः) सर्वथा एक समान रूप वाली हैं (इष्ट्या) यज्ञ के द्वारा (अग्निः) सम्राट् (यासां) जिन के (नामानि) नामों अर्थात् भेदों को (वेद) जानता है (याः) जिन्हें (अंगिरसः) अंगिरा लोग (तपसा) तप द्वारा (इह) यहाँ (चक्रुः) बनाते हैं (ताभ्यः) उन के लिये (पर्जन्य) हे मेघ ! (महि) बहुत बड़ा (शर्म) सुख (यच्छ) दीजिये ॥२॥"
मन्त्र-गत वर्णन से निम्न बातें ध्यान में आती हैं—

१. **"सरूपाः, विरूपाः और एकरूपाः"** शब्दों की यह ध्वनि है कि हमारे पास अनेक रूपों अर्थात् अनेक प्रकार अथवा श्रेणियों की गौवें रहनी चाहियें। किन्हीं के दूध में मक्खन अधिक हो, किन्हीं के दूध में मलाई अथवा दूध में पाई जाने वाली कोई और चीज अधिक हो, किन्हीं के बछड़े खेती के लिये बढ़िया बैल बन सकते हों।
२. "अग्नि अर्थात् सम्राट् इन के नामों अर्थात् भेदों को जानता है", इस वाक्य की व्यंजना यह है कि राज्य के पास ऐसे विशेषज्ञ विद्वान् कर्मचारी रहने चाहियें जो आवश्यकतानुसार गौवों के इन रूपों को बढ़ाते रह सकें।
३. "अग्नि यज्ञ के द्वारा इन के भेदों को जानता है", यह वाक्य भी सुस्पष्ट है। ज्ञान की सारी बातें यज्ञ द्वारा जानी जाती हैं। यज्ञ अर्थात् सुव्यवस्थित संगतीकरण अर्थात् संघटन के बिना किसी विद्या की उन्नति नहीं हो सकती। आवश्यकतानुसार गौवों की नस्लों (प्रकारों) को बनाने और बढ़ाने के लिये राज्य यज्ञ करता है अर्थात् उपयुक्त विद्वानों के संघटन (Organisations) बनाता है।
४. "अंगिरसः" का अर्थ सायण ने यहाँ "ऋषयः" अर्थात् ऋषि लोग ऐसा किया है। ऋषि उच्च कोटि के तत्त्वदर्शी विद्वानों को कहते हैं। ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में "अंगिरसः" का और-और अर्थों के साथ एक अर्थ **"प्राणादिविद्याविदः", "सर्वविद्यासिद्धान्तविदः", "प्राप्तविद्यासिद्धान्तरसानाम्"**,ऐसा भी किया है। उन के अनुसार विद्या-रस में निमग्न रहने वाले विद्वानों को अंगिरसः कहते हैं। अब, "अंगिरा लोग तप के द्वारा गौवों को बनाते हैं",इस का भाव यह हुआ कि विद्या-तत्त्वों के पारदर्शी विद्वान् लोग तप कर के अर्थात् अनेक कष्ट उठा कर गौवों के प्रकारों का निर्माण, उन का संवर्धन, पालन और संरक्षण करते हैं। गौ का दूध, मक्खन आदि स्वास्थ्य के लिये इतना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि कष्ट उठा कर भी उस की प्रभूत

मात्रा में प्राप्ति के उपाय करने चाहियें, यहाँ प्रयुक्त इस "तपसा" पद की यह ध्वनि भी है। और ज्ञानी लोग गोपालन के भारी महत्त्व को सदा समझते हैं यह ध्वनि "अंगिरसः" पद की है।

५. "पर्जन्य गौवों के लिये बहुत बड़ा सुख देवे", इस वाक्य का व्यंग्यार्थ यह है कि जहाँ तक हो सके बादल की वर्षा से उत्पन्न हुए जंगल के घास गौवों को अधिक खिलाने चाहियें। इस के लिये उन्हें जंगल में चरने भेजना चाहिये। दिन-रात उन्हें घर में ही नहीं बाँध रखना चाहिये। पानी भी जहाँ तक हो सके शुद्ध वर्षा-जल का ही देना चाहिये।

"(याः) जो (देवेषु) राष्ट्र के भाँति-भाँति के व्यवहारशील लोगों में (तन्वं) अपने शरीर से उत्पन्न दूध को (ऐरयन्त) भेजती हैं, (यासां) जिन के (विश्वा) सब (रूपाणि) रूपों अर्थात् भेदों को (सोमः) सोम (वेद) जानता है (अस्मभ्यं) हमारे लिये (पयसा) अपने दूध से (पिन्वमानाः) सिंचन करती हुई और (प्रजावतीः) सन्तानों से युक्त (ताः) उन गौवों को (इन्द्र) हे सम्राट्, (गोष्ठे) हमारे गौ बांधने के स्थान में (रिरीहि) प्राप्त करा ॥३॥"

मन्त्र-गत वर्णन से अधोलिखित बातों का निष्कर्ष निकलता है—

१. भाँति-भाँति के व्यवहार करने वाले राष्ट्र के सभी लोगों को गौ का दूध पीना चाहिये। "गौवें अपने शरीर से उत्पन्न दूध को देवों में भेजती हैं", इस वाक्य की यही ध्वनि है।

गौवों की हत्या नहीं की जा सकती

यहाँ गौवों के शरीर से उत्पन्न होने के कारण उन के दूध को ही उपचार से उन का शरीर (तन्वं) कह दिया है। **"अस्मभ्यं पयसा पिन्वमानाः"** इन शब्दों के साहचर्य में "तन्वं" का यही अभिप्राय लेना होगा। गौ को मार कर उस का मांस खाने या उस के मांस द्वारा यज्ञ करने की कल्पना इस मन्त्र से नहीं लेनी चाहिये। क्योंकि गौ को वेद में अनेक स्थानों पर **"अघ्न्या"** अर्थात् न मारने-योग्य कहा है। वेद में गौ के अतिप्रसिद्ध नामों में से एक यह "अघ्न्या" नाम है और उस का वेद में पचासों स्थानों पर प्रयोग हुआ है। वेद में गौ का यह नाम रहते हुए वेद के किसी वाक्य से गो-वध-विषयक अर्थ नहीं निकाला जा सकता। वेद में निरपराध प्राणियों की हिंसा को बड़ा बुरा और भयङ्कर कर्म बताया गया है। **अथर्व. १०. १. २९** में कहा है—**"अनागो हत्या वै भीमा।"** अर्थात् "निष्पाप और निरपराध प्राणियों की हत्या निश्चय ही बहुत भयानक कर्म है।"

निरपराध और निष्पाप प्राणियों की हत्या को भयानक और क्रूर कर्म बता कर वेद सभी प्राणियों की हिंसा को निन्दनीय और निषिद्ध ठहरा देते हैं। उन प्राणियों में गौ भी आ ही जाती है। भला गौ से बढ़ कर निरपराध और निष्पाप प्राणी दूसरा कौन सा होगा ? वेद में स्थान-स्थान पर दोपाये और चौपाये पशु-पक्षी आदि प्राणियों के मारने का निषेध किया गया है। यजुः. १३. ४४. में कहा है—**"मा हिंसीर्द्विपादं चतुष्पादम्।"** अर्थात्, "दोपाये और चौपाये प्राणियों की हिंसा मत करो।" चौपाये प्राणियों में गौ भी आ जाती है। अतः गौ की हत्या वेद-विरुद्ध है। इस के अतिरिक्त वेद में अनेक स्थानों पर गौ को किसी अवस्था में भी नहीं मारा जाना चाहिये इस बात का स्पष्ट उल्लेख भी मिलता है। यजुः. १३. ४३. में आदेश है—**"गां मा हिंसीः"** अर्थात्, "गौ की हिंसा मत करो।" ऊपर ऋग्. ६. २८. ४ मन्त्र की व्याख्या में हम देख चुके हैं कि—**"न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि"** अर्थात्, "गौवों को कभी हिंसा के लिये सूनागृह में नहीं जाने दिया जाता।" ऋग्. ८. १०१. १५ मन्त्र में स्पष्ट विधि-वाक्य है कि गौ को कभी मत मारो। पूरा मन्त्र इस प्रकार है—**"माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः। प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट।"** अर्थात्, "गौ राष्ट्र के रुद्र, वसु और आदित्य ब्रह्मचारी रह कर विद्या प्राप्त करने वाले प्रजा-जनों की माता, पुत्री और बहिन है। भाव यह है कि प्रजाजनों को गौ के साथ माता, बहिन और पुत्री की भाँति गहरा प्रेमभाव रखना चाहिये। गौ अमृत की नाभि अर्थात् केन्द्र है क्योंकि उस से अमृत जैसे गुणों वाला दूध प्राप्त होता है। मैं परमात्मा, ज्ञानवान् पुरुषों को आज्ञा देता हूँ कि वे निष्पाप और कभी भी न काटी जाने योग्य (अदिति) गौ को न मारें।" मन्त्र का भाव अति स्पष्ट है। गौ अमृत पिलाती है। उस के साथ माता, बहिन और पुत्री की तरह प्यार किया जाना चाहिये। वह निष्पाप है। वह कभी काटी जाने के योग्य नहीं है। उसे कभी नहीं मारना चाहिये। इन और ऐसे ही अन्य मन्त्रों के रहते वेद के किसी वाक्य से गौ को मारने का अर्थ नहीं निकाला जा सकता। इसी प्रसङ्ग में ऋग्.१०.८७. १६ मन्त्र भी देखने-योग्य है। मन्त्र इस प्रकार है—**"यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः। यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च।"** अर्थात्, "जो व्यक्ति पुरुष के मांस से अपने को पुष्ट करता है, जो राक्षस-व्यक्ति घोड़े के मांस से अथवा अन्य किसी पशु के मांस से अपने को पुष्ट करता है, जो कभी न मारने योग्य (अघ्न्या) गौ को मार कर उस के दूध को हर लेता है ऐसे इन राक्षस पुरुषों के सिरों को भी हे राजन् (अग्ने), अपने शस्त्र से काट

डाल।" इस मन्त्र में सभी पशुओं के मांस को खाने का निषेध किया गया है। मांस खाने वाले व्यक्ति को यातुधान अर्थात् राक्षस कहा गया है। मन्त्र के अनुसार मनुष्य को मार कर खाना जैसा भारी अपराध है, किसी पशु को मार कर खाना भी वैसा ही अपराध है, और गौ को मार कर खाना भी वैसा ही भारी अपराध है। ऐसा अपराध करने वाले का सिर भी काटा जा सकता है। मन्त्र के "अपि"––भी––पद की यह ध्वनि है कि यदि ऐसा अपराधी पुरुष समझाने-बुझाने या किसी अन्य दण्ड से ठीक न हो तो उसे सिर काटने अर्थात् मृत्यु का दण्ड भी दिया जा सकता है। गौ को मारने वाले को दण्ड देने का विधान वेद में और भी अनेक स्थानों पर मिलता है। उदाहरण के लिये ऋग्. ७. ५६. १७ में कहा है––"**आरे गोहा नृहा।**" अर्थात्, "गौ को मारने वाला और मनुष्य को मारने वाला व्यक्ति समाज से दूर रहे।" ऐसे व्यक्ति को समाज में नहीं रहने देना चाहिये। उसे जेलखाने आदि में डाल कर समाज से दूर रखना चाहिये। यजुः. ३०. १८. में कहा है––"**अन्तकाय गोघातम्।**" अर्थात्, "गौ की हत्या करने वाले को मृत्यु को सौंप देना चाहिये।" इस प्रकार जब वेद में गो-हत्या को दण्डनीय अपराध माना गया है तो वेद के किसी वाक्य से गौ को मार कर खाने की आज्ञा नहीं निकाली जा सकती।

वेद में एक दूसरे स्थान पर भोजन के सम्बन्ध में कहा है––"**पुष्टिं पशूनां परिजग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम्। पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात्।**" (अथर्व. १६. ३१. ५) अर्थात्, "चौपाये और दोपाये पशुओं तथा जो कोई अनाज (धान्य) है उस से मैं पुष्टि प्राप्त करता हूँ। पशुओं का दूध (पयः) पीता हूँ और अनाजों को (ओषधीनाम्) चबा कर उन का रस लेता हूँ। सब को उत्पन्न करने वाले (सविता) और सब के पालक और रक्षक (बृहस्पति) परमात्मा ने मेरे लिये यही नियम बनाया है (नियच्छात्)।" इस भोजन का नियम बाँधने के प्रकरण में यदि पुष्टि प्राप्त करने के लिये पशुओं का मांस खाना भी वेद को अभीष्ट होता तो "**पशूनां पयः**"––पशुओं का दूध––इतना न कह कर "**पशूनां पयः मांसं च**"––पशुओं का दूध और मांस––ऐसा कह दिया जाता तथा पशुओं का दूध पीने और मांस खाने दोनों का ही विधान कर दिया जाता। पर यहाँ तो केवल पशुओं के दूध के पीने का ही विधान किया गया है। इस से स्पष्ट है कि वेद की सम्मति में किसी भी पशु का मांस नहीं खाना चाहिये। और इसी लिये किसी भी पशु को मारा नहीं जाना चाहिये। फलतः गौ का भी दूध ही पीना उचित है। उस का मांस नहीं खाना चाहिये। और इसी लिये गौ को भी मारा नहीं जाना चाहिये। इसी भांति

अथर्व. ४. २७ सूक्त में भी प्रसंग से भोजन के सम्बन्ध में निर्देश आया है। इस सूक्त में मरुतों का वर्णन है। यहां मरुतों का वर्णन सैनिकों के रूप में है। प्रसंग से इन सैनिकों के भोजन का वर्णन किया गया है। उन के भोजन के सम्बन्ध में कहा है--"**पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ।**" (अथर्व. ४. २७. ३.) अर्थात्, "जो ज्ञानी (कवि) मरुत् (सैनिक) गौओं के दूध और भाँति-भाँति के अन्न तथा ओषधियों के रस का सेवन करते हैं और इस प्रकार अपने भीतर घोड़ों जैसी तेज दौड़ने की शक्ति उत्पन्न करते हैं।" पाठक देखेंगे कि यहाँ सैनिकों--क्षत्रियों--के अन्दर शक्ति का संचार करने के लिये वेद ने गौ के दूध का और अनाज तथा ओषधियों का ही भोजन के रूप में विधान किया है। गौ के या अन्य किसी पशु के मांस का नहीं। वेद के इस प्रकार के मन्त्रों की उपस्थिति में वेद के किसी वाक्य या शब्द से गौ को मारने का अर्थ नहीं निकाला जा सकता। यदि कहीं ऊपर-ऊपर से ऐसा अर्थ प्रतीत होता हो तो उस वाक्य या शब्द का दूसरा अर्थ खोजना चाहिये जो वेद के इन स्पष्ट गोवध-निषेधपरक मन्त्रों से विरोध न खाता हो। इसी लिये हम ने ऊपर "तन्वं" का अर्थ गौ के शरीर से उत्पन्न होने वाला गौ का दूध किया है। प्रकरण और वेद के आशय के अनुकूल इस पद का यही अर्थ हो सकता है। या इस का अर्थ गौ का चमड़ा कर के यह भाव भी लिया जा सकता है कि जो अपने चमड़े से जूते आदि देती है। यास्काचार्य ने निरुक्त में गौ का अर्थ गौ का चमड़ा भी किया है[1]।

२. "पिन्वमानाः" (पिवि सेचने) क्रिया का भाव यह है कि हमें गौ का दूध खूब पीना चाहिये। दूध द्वारा हमें अपने आप को सींचना चाहिये। पाव-आध-पाव दूध पीकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिये।
३. न्यायाधीश के रूप में राजा का जो स्वरूप प्रकट होता है उसे सोम कहते हैं। सोम गौओं के सब भेदों को जानता है। इस वाक्य का भाव यह है कि राज्य के न्याय विभाग से सम्बन्ध रखने वाले कर्मचारियों को गौओं के सम्बन्ध में सब आवश्यक जानकारी रहनी चाहिये। जिस से वे गौवों सम्बन्धी अभियोगों को आसानी से सुलझा सकें।
४. "इन्द्र गौवों को हमारे गोष्ठ में प्राप्त करा", इस प्रार्थना से यह ध्वनित होता है कि सम्राट् का यह कर्तव्य है कि वह ऐसे उपाय करे जिन से राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को घर में गौ रखना संभव हो सके। बहुवचन की यह ध्वनि

---

१. निरुक्त २. ५।

है कि एक ही नहीं, प्रत्येक घर में अनेक गौवें रह सकें ऐसा राज्य को प्रबन्ध करना चाहिये ।

५. "प्रजावती:" शब्द की यह ध्वनि है कि राज्य को यह भी प्रबन्ध करना चाहिये कि प्रत्येक घर की गौवें उत्कृष्ट सन्तानें उत्पन्न कर सकें ।

"(विश्वै:) सब (देवै:) विविध व्यवहारशील राज्य के कर्मचारियों और (पितृभि:) सभा और समिति नामक नियामक राज्यसभाओं के सदस्यों के साथ (संविदान:) एक मति को प्राप्त होता हुआ (प्रजापति:) प्रजा-पालक राजा (मह्यं) मुझे (एता:) इन गौवों को (रराण:) देता हुआ (शिवा: सती:) इन्हें कल्याणकारिणी बना कर (न:) हमारे (गोष्ठं) गोष्ठ में (उप आ अक:) भेजे (वयं) हम (तासां) उन गौवों की (प्रजया) सन्तान से (संसदेम) युक्त हो कर रहें ॥४॥"

मन्त्र से निम्न बातों पर प्रकाश पड़ता है—

१. राजा का कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक घर में गौवें रह सकें इस बात का प्रबन्ध करे । वे गौवें सामान्य न हों । शिवा अर्थात् पूर्णरूप से मंगलकारिणी हों । गौवों से मिल सकने योग्य मंगल उन से भली-भांति मिल सकते हों ।

२. प्रत्येक गृहस्थ की गौवों से उत्कृष्ट सन्तान उत्पन्न हो सकने का प्रबन्ध भी राज्य को करना चाहिये ।

३. राष्ट्र में गो-पालन और गो-संवर्धन के कार्य के सम्बन्ध में आवश्यक बातें करवाने के लिये आवश्यक हो तो राज्य-कर्मचारियों और राज्य की नियामक सभाओं का सहयोग भी प्राप्त कर लेना चाहिये । अर्थात् इस सम्बन्ध में नियामक सभाओं (Legislatures) से नियम पास करवा के राज्य-कर्मचारियों द्वारा उन का पालन करवाना चाहिये । **"देवै: पितृभि: संविदान: प्रजापति:"**, इस वाक्य का यही भाव है । अथर्व. ७. १२. १. में सभा और समिति के सदस्यों को "पितर:" कहा गया है । उसी से हम ने यहाँ "पितृभि:" का अर्थ सभा और समिति के सदस्य किया है । और इस पद के साहचर्य से "देवै:" का अर्थ हम ने राज्य कर्मचारी किया है । देव शब्द संस्कृत-साहित्य में राजा के लिये प्रचुर रूप में प्रयुक्त होता ही है । इस लिये बहुवचनान्त "देवै:" प्रयोग में यह शब्द राज्य-कर्मचारियों को कहेगा जब कि ये देव, प्रजापति अर्थात् राजा से सम्बन्ध रखने वाले हों ।

राष्ट्र के लिये गोपालन का महत्त्व, उस के उपाय और उस के सम्बन्ध में राजा के कर्त्तव्यों पर वेद जो प्रकाश डालता है वह इन मन्त्रों में कितना स्पष्ट है ।

३
गोपालन-विषयक कुछ अन्य निर्देश

इस प्रसंग में अथर्व. ३. १४. सूक्त पर भी एक दृष्टि डाल लेनी चाहिये। यह सूक्त भी गोपालन-विषयक ही है। इस में भी गोपालन के सम्बन्ध में अनेक निर्देश उपलब्ध होते हैं। सूक्त ६ मन्त्रों का है। स्थानाभाव से हम प्रत्येक मन्त्र का प्रतिपद अर्थ नहीं देते । वहां से गोपालन के सम्बन्ध में कुछ स्थूल निर्देश करने वाले दो चार वाक्यों को ही हम यहां उद्धृत कर कर रहे हैं—

सं वो गोष्ठेन सुषदा। अथर्व. ३. १४. १।
शिवो वो गोष्ठो भवतु। अथर्व. ३. १४. ५।
अयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः। अथर्व. ३. १४. ६।

इन वाक्यों में यह कहा गया है कि गौवों के रहने का स्थान (गोष्ठ) ऐसा होना चाहिये जिस में गौवें सुख-पूर्वक बैठ सकें और रह सकें। वह उन के लिये सब भांति शिव अर्थात् कल्याणकारी होना चाहिये । और उस में उन्हें सब प्रकार की पुष्टि प्राप्त हो सके अर्थात् उस में पुष्टिदायक खान-पान आदि का गौवों के लिये पूरा प्रबन्ध रहना चाहिये।

अबिभ्युषीः। अथर्व. ३. १४. ३।

इस शब्द द्वारा यह निर्देश किया गया है कि ऐसा प्रबन्ध होना चाहिये कि हमारी गौवों को कहीं किसी तरह का भी डर न प्राप्त हो सके।

रायस्पोषेण बहुला भवन्तीः। अथर्व. ३. १४. ६।

इस वाक्य में कहा गया है कि अपने धन द्वारा खूब खिला-पिला कर हमें अपनी गौवों को पुष्ट करना चाहिये जिस से उन की संख्या हमारे घर में खूब बढ़ सके।

मया गावो गोपतिना सचध्वम्। अथर्व. ३. १४. ६।

अर्थात् "हे गौवो, मुझ गोपति के साथ मिल कर रहो," इस वाक्य की ध्वनि यह है कि प्रत्येक गृहस्थ को अपने घर में गौवें रख कर गोपति बनना चाहिये ।

अनमीवाः। अथर्व. ३. १४. ३।

इस शब्द द्वारा कहा गया है कि हमें अपनी गौवों को सदा नीरोग रखना चाहिये । रोगी गौवों का दूध नहीं पीना चाहिये, यह इस शब्द से स्वयं ही निकल आता है।

बिभ्रतीः सोम्यं मधु। अथर्व. ३. १४. ३।

अर्थात् "गौवें सोममय अर्थात् सोम[1] के गुणों से युक्त मधुर दूध अपने अन्दर रखती हैं"। इस वाक्य से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वेद में गोपालन का इतना अधिक महत्त्व क्यों है।

सं वः सृजतु . . . . समिन्द्रो यो धनंजयः। अथर्व. ३. १४. २।

अर्थात् "धन-प्रदाता सम्राट् (इन्द्र) तुम्हें मेरे साथ जोड़े या मेरे यहां उत्पन्न करे (संसृजतु)।" इस वाक्य द्वारा इस सूक्त में भी राज्य का कर्त्तव्य बता दिया गया है कि वह ऐसा प्रबन्ध करे जिस से सोममय दूध का पान कराने वाला गोधन राष्ट्र के प्रत्येक गृहपति के घर में रह सके।

४
गौवों को कैसे साँड से मिलाया जाये?

गौवों की उत्तम नस्ल प्राप्त करने के लिये आवश्यक है कि उन का उत्तम वृषभों के साथ संयोग करा कर सन्तानें उत्पन्न कराई जायें। वेद में इस के महत्त्व को बहुत अधिक समझा गया है। अथर्ववेद के नवम काण्ड का चतुर्थ सूक्त बड़े-बड़े २४ मन्त्रों का है। इस सूक्त में सन्तानोत्पादन के लिये नियुक्त किये जाने वाले वृषभ की महिमा गाई गई है और आलंकारिक ढंग में यह उपदेश किया गया है कि यदि किसी के घर में कभी बहुत उत्तम कोटि का बछड़ा उत्पन्न हो जाये तो उसे नगर की गौवों में सन्तान उत्पन्न करने के लिये दान कर देना चाहिये। उसे "ऐन्द्र" बना देना चाहिये अर्थात् राज्य को सौंप देना चाहिये। वेद की दृष्टि में यह कार्य बड़ा पवित्र है, क्योंकि इस से राष्ट्र के लोगों का कल्याण होता है। इस लिये यज्ञ कर के, ब्राह्मणों को दान कर के उन द्वारा राष्ट्र के काम पर उस वृषभ को नियुक्त कराना चाहिये। सूक्त के २१ वें मन्त्र में सम्राट् (इन्द्र) का कर्तव्य भी बताया गया है कि वह उत्तम वृषभ-रूप चेतन धन राष्ट्र को प्रदान करे और इस प्रकार उत्तम दूध देने वाली, सदा बछड़ों से युक्त, धेनु हमें देता रहे। प्रजाजनों या राज्य (इन्द्र) की ओर से जो वृषभ सन्तानोत्पत्ति के लिये नियुक्त किया जाये वह **"साहस्रः"** (अथर्व० ६।४।१) अर्थात् सहस्रों बच्चे उत्पन्न कर सकने में

---

१. जो लोग सोम का अर्थ शराब करते हैं उन की धारणा का वेद के इस वाक्य से खण्डन हो जाता है। यहाँ गौ के दूध को सोम के गुणों वाला कहा गया है। वास्तव में वेद का सोम एक ओषधि है जो शक्ति और स्फूर्ति देती है, बुद्धि-वर्धक होती है और जिस में मादकता बिल्कुल नहीं होती।

समर्थ हो, "**त्वेषः**" (६ । ४ । १) अर्थात् बड़ा तेजस्वी हो, "**ऋषभः**" (६ । ४ । १) अर्थात् गतिशील, चंचल, फुर्तीला हो, "**पयस्वान्**" (६ । ४ । १) अर्थात् बहुत दूध देने वाली नस्ल की गौ का पुत्र हो जिस से उस की सन्तानें भी बहुत दूध दे सकें, "**उस्रियः**" (६ । ४ । १) उस्रा अर्थात् गौवों से सम्बन्ध कर सकने योग्य हो, "**पुमान्**" (६ । ४ । ३) अर्थात् पुरुषत्व युक्त हो, "**अन्तर्वान्**" (६ । ४ । ३) अर्थात् गर्भ धारण करने में समर्थ हो, "**स्थविरः**" (६ । ४ । ३) स्थिर प्रकृति का हो अर्थात् अपने गुणों को स्थिर रखता हो। ऐसा वृषभ नियुक्त करने का प्रयोजन यह है कि वह "**तन्तुमातान्**" (६ । ४ । १) अर्थात् सन्तान-रूप तन्तु को आगे फैला सके। क्योंकि यह वृषभ "**पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानाम्**" (६ । ४ । ४)——उत्तम बछड़ों का बाप और गौवों का पति होता है, "**प्रतिधुक् पीयूष आमिक्षा घृतं तद्वस्य रेतः**"—(६ । ४ । ४) इस के वीर्य से ताजा दूध, पीयूष, आमिक्षा और घृत प्राप्त होते हैं, "**सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि**" (६ । ४ । ६) "**आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः**" (६ । ४ । ७)——इस के कारण "सोम[१] जैसे दूध के घड़े भरे जाते हैं और इस के वीर्य के कारण आज्य और घृत प्राप्त होता है", "**त्वष्टा रूपाणां जनिता पशूनाम्**" (६ । ४ । ६)—"यह रूपवान् बच्चे उत्पन्न करने वाला होता है", और क्योंकि इस के कारण ही "**इन्द्र, वरुण, मरुत्**" आदि (६ । ४ । ८) राज्याधिकारी देवों के शरीरों में ओज भरने वाला दूध प्राप्त होता है, इस लिये यह वृषभ स्वयं भी एक दिव्य वस्तु है। वृषभ की इसी दिव्यता को ध्यान में रख कर सूक्त में उस का एक बड़ा सुन्दर आलंकारिक वर्णन किया गया है——उसे सभी देवों का रूप बना दिया गया है। स्थानाभाव से हम सूक्त के आलंकारिक वर्णन से युक्त और संख्या में प्रचुर मन्त्रों का यहां प्रतिपद अर्थ देने में असमर्थ हैं। सूक्त का सारांश ही हम ने इन पंक्तियों में दिया है।

यज्ञों में गो-हिंसा वेद-विरुद्ध है

सायणादि भाष्यकार इस सूक्त को बैल को मार कर उस के मांस से यज्ञ करने में लगाते हैं। यह उन की भूल है। मार कर जिसे यज्ञ में जला दिया गया है उस बैल से ऊपर वर्णित चीजें प्राप्त नहीं हो सकती। सूक्त के अन्तिम मन्त्र

---

१. इस मन्त्र में गौ के दूध को सोम जैसा कहा गया है। जो लोग सोम का अर्थ शराब करते हैं उन के मत का वेद के इस वाक्य से खण्डन हो जाता है। सोम वास्तव में एक ओषधि है जिस का रस स्फूर्तिदायक, शक्ति और बुद्धि का वर्धक होता है और जिस में किसी प्रकार की मादकता नहीं होती।

"एतं वो युवानं प्रति दध्मो अत्र तेन क्रीडन्तीश्चरत वशाँ अनु, मा नो हासिष्ट जनुषा सुभागा रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम्" (६. ४. २४) में गौओं को सम्बोधन कर के कहा गया है कि "इस युवा ऋषभ (वृषभ) के साथ हम तुम्हें मिलाते हैं, इस के साथ खेलती हुई इच्छानुसार विचरण करो, हमें कभी अपनी सन्तानों से हीन न करो और ऐश्वर्यों की पुष्टियों से हमें युक्त करो।" यह वर्णन यज्ञ में जला दिये गये ऋषभ पर कभी नहीं घट सकता। यह हमारे दिखाये हुए अर्थ में ही संगत हो सकता है। सूक्त में प्रयुक्त हुए "जुहोति" क्रिया के रूपों से भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। "हु" धातु का अर्थ "दान" भी होता है। क्योंकि यजमान अपने उत्कृष्ट ऋषभ को राष्ट्र के काम के लिये दान कर रहा है, इस लिये वह उस का हवन ही है। अन्यत्र वेद में गौ को मार कर उस से यज्ञ करने का स्पष्ट निषेध किया गया है। उदाहरण के लिये अथर्ववेद का निम्न मन्त्र देखिये—

"मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधायजन्त, य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः," (अथर्व. ७. ५. ५) अर्थात् "वे याज्ञिक लोग (देवाः) मूर्ख और अज्ञानी (मुग्धाः) हैं, जो कुत्ते से (शुना) यज्ञ करते हैं अथवा गौ के अङ्गों से भांति-भांति के (पुरुधा) यज्ञ करते हैं। जो इस यज्ञ को मन से जानता है वही हमें यज्ञ के रहस्य को बता सकता है, ऐसे यज्ञ के रहस्यवेत्ता ज्ञानी को ही हमें बताओ।" इस मन्त्र में पशुओं की बलि दे कर यज्ञ करने की निन्दा की गई है। ऐसे यज्ञ करने वालों को मूर्ख कहा गया है। निकृष्ट पशुओं में कुत्ता गिना दिया गया और उत्तम पशुओं में गौ गिना दी गई। बीच में सभी प्रकार के पशु आ गये। किसी भी पशु की बलि दे कर यज्ञ करने वाला याज्ञिक मूर्ख है। यज्ञ तो मन से विचार-पूर्वक काम करने का नाम है। ऐसे कामों में पशुहिंसा का कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार इस मन्त्र में पशुमात्र की बलि से यज्ञ का निषेध करते हुए गौ की बलि से यज्ञ का तो स्पष्ट ही निषेध कर दिया गया है। ऐसे यज्ञों को मूर्खों का काम बताया गया है। इस मन्त्र की उपस्थिति में वेद के किसी संदर्भ को गौ की बलि दे कर यज्ञ करने-विषयक अर्थ में नहीं लगाया जा सकता। इस लिये अथर्ववेद के इस ६. ४ सूक्त को सायणादि भाष्यकारों ने जो बैल को मार कर उस के मांस से यज्ञ करने में विनियुक्त किया है वह वेद-विरुद्ध है। फिर जैसा हम ने ऊपर दिखाया है सायणादि का यह अर्थ इसी सूक्त की अन्तःसाक्षी के भी विरुद्ध है।

वेद में गोपालन के महत्त्व और इस महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्बन्ध में राज्य के कर्त्तव्य को अनेक प्रसंगों में बताया गया है। स्थानाभाव हमें इस प्रसङ्ग में अधिक लिखने से रोकता है।

वेद में गोपालन का जो स्थान है वह पाठकों ने देख लिया है। हिन्दु जाति में गौ के प्रति जो आदर और स्नेह की गहरी भावना पाई जाती है उस का मूल स्रोत आर्यों के धर्मग्रन्थ वेद में गोपालन के सम्बन्ध में दिये गये उपर्युक्त और इन जैसे अन्य महत्त्वपूर्ण उपदेश ही हैं। ऋषि दयानन्द वेद के परम प्रचारक थे। इसी लिये वे गोपालन का प्रचार भी देश में पूरे बल से चाहते थे। इसी कारण उन्होंने "गोकरुणानिधि" लिखी और गो-रक्षिणी सभाओं का आन्दोलन चलाया था। वेद के ये उपदेश और ऋषि का जीवन हम आर्यों का गो-रक्षा के सम्बन्ध में जो कर्त्तव्य है उस की ओर स्पष्ट निर्देश करते हैं।

वैदिक समाज-व्यवस्था

१

आज के समाज की भीषण आर्थिक विषमता

एक ओर तो वे लोग हैं जो आकाश को चूमने वाले राजमहलों जैसे विशाल भवनों में रहते हैं और दूसरी ओर वे लोग हैं जिन्हें सिर छिपाने के लिये फूस की झोंपड़ी भी नसीब नहीं होती। एक ओर तो वे लोग हैं जिन के घरों के आगे एक-एक दरवाजे पर एक-एक मोटर खड़ी रहती है, जिन के घरों के एक-एक कमरे में एक-एक टेलीफोन और एक-एक रेडियो रहता है, जिन के कमरों में काश्मीर और फारस के मखमली कालीन बिछे रहते हैं, जो स्प्रिङ्गदार पलंगों पर साइबेरिया के पक्षियों के रूई से भी मुलायम पंखों से भरे हुए रेशमी गदैलों और रजाइयों में सोते हैं, और दूसरी ओर वे लोग हैं जो सारी आयु-भर पैदल यात्रा करते हैं, जिन की झोंपड़ियों के फर्श पर गोबर और मट्टी का पोचा भी मुश्किल से लगता है, जिन्हें पैर फैलाने को टूटी चारपाई भी नहीं मिल पाती, जो जीवन भर जमीन पर ही सोते हैं, जिन्हें रात को सरदी से बचाव करने के लिये फटी गुदड़ी भी शायद ही मिल पाती है। एक ओर तो वे लोग हैं जिनके ट्रंकों-के-ट्रंक कीमती से कीमती कपड़ों से भरे रहते हैं, जिन के रात को सोने के समय के वस्त्र अलग, प्रातः उठ कर चाय के लिये बैठने के वस्त्र अलग, दोपहर के भोजन पर बैठने के वस्त्र अलग और रात के भोजन पर बैठने के अलग, पढ़ने-लिखने के और आये-गये से मिलने के कमरों में बैठने के वस्त्र अलग, दफ़्तर में पहिन कर जाने के वस्त्र अलग, बाज़ार में जाने और खेलने जाने के समयों के लिये वस्त्र अलग रहते हैं, और वस्त्र पहिनने के समय जिन के एक हाथ को कुर्ते-कोट की एक बाँह में डालने के लिये पृथक् नौकर उपस्थित रहता है और दूसरे हाथ को कुर्ते-कोट की दूसरी बांह में डालने के लिये दूसरा नौकर पृथक् उपस्थित रहता है, और दूसरी ओर वे लोग हैं जिन्हें ऋतुओं की कठोरता से अपने तन की रक्षा करने के लिये तथा अपनी लज्जा को ढकने के लिये फटे-पुराने कपड़े भी पूरी तरह नहीं जुड़ पाते। एक ओर तो वे लोग हैं जो चांदी और सोने के बर्तनों में भोजन करते हैं, और दूसरी ओर वे लोग हैं जिन्हें यदि मट्टी के बर्तन भी मिल जायें तो अपना बड़ा भाग्य समझते हैं। एक ओर तो वे लोग हैं जो दिन में पांच-पांच बार राजसी भोजन करते हैं और इतना खाते हैं कि उस से सदा उन्हें अजीर्ण रहता है और दूसरी ओर वे लोग हैं जो भुने चने चबाने के लिये भी तरसते रहते हैं, जिन्होंने सारी आयु भर भी

कभी पूरा पेट भर कर भोजन नहीं किया होता है और जिन्हें यह पता ही नहीं होता है कि पेट-भर कर तृप्त हो कर भोजन करने का क्या आनन्द होता है तथा जो इन धनियों की फेंकी हुई जूठी पत्तलों पर इस प्रकार झपटने के लिये तैयार रहते हैं जिस प्रकार कुत्ते-कौवे तैयार रहा करते हैं । एक ओर तो वे लोग हैं जो कुत्ते-बिल्लियों को पाल कर उन्हें अपनी गोद में बिठा कर दूध पिलाते और बढ़िया-से-बढ़िया माल खिलाते हैं, और दूसरी ओर वे लोग हैं जो अपने बच्चों को दूध के नाम पर आटा-घुला पानी भी पीने को नहीं दे सकते हैं । एक ओर तो वे लोग हैं जो भोजन के लिये और, खेलने के लिये और, कालेज जाने के लिये और, बाज़ार जाने के लिये और, पढ़ने-लिखने तथा आये-गये से मिलने के कमरों में बैठने के लिये और, तथा कचहरी में जाने के लिये और, इस प्रकार दिन में दस वार बूट और जूते बदलते हैं, और दूसरी ओर वे लोग हैं जो सदा नंगे पैर चलते हैं और जिन के पैरों में सदा बिवाई फटी रहती हैं । एक ओर तो वे लोग हैं जो ब्याह-शादियों और चाय-पार्टियों पर पानी की तरह रुपया बहाते रहते हैं और दूसरी ओर वे लोग हैं जिन्हें अपनी दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये भी कहीं से दो कौड़ी नहीं जुड़ पातीं । एक ओर तो वे लोग हैं जिन के लाखों और करोड़ों के कारखाने खड़े हैं, और दूसरी ओर वे लोग हैं जो टूटी दुकान भी नहीं चला सकते और जिन्हें टोकरी ढोने की मज़दूरी भी नहीं मिल पाती । एक ओर तो वे लोग हैं जो सैकड़ों की तो बात ही क्या, हज़ारों और लाखों एकड़ भूमि के मालिक हैं और दूसरी ओर वे लोग हैं जो एक इंच भूमि को भी अपना नहीं कह सकते । एक ओर तो वे लोग हैं जो सम्पत्ति में लोटते रहते हैं और दूसरी ओर वे लोग हैं जो परले सिरे की गरीबी से दबे रहते हैं । आज समाज में इतनी भीषण आर्थिक विषमता है ।

और धन-वैभव के समुद्र में तैरने वाले इन लोगों की धरती पर संख्या कोई बहुत अधिक हो और गरीबी से दबे लोगों की संख्या बहुत थोड़ी हो सो बात नहीं है । धरती का दौर्भाग्य यह है कि इन वैभवशाली लोगों की संख्या तुलना में बहुत थोड़ी है और गरीबी तथा भूखे-नंगेपन का जीवन बिताने वाले लोगों की संख्या बहुत अधिक है । फिर शोचनीय अवस्था यह है कि समृद्धि और सम्पत्ति के स्वामी इन अल्पसंख्यक लोगों की दुकानें, कम्पनियें, कारखाने और ज़मींदारियें—जहाँ से धन-वैभव की गंगा बह कर इन के घरों में आती है—चलती हैं इन में काम करने वाले बहुसंख्यक गरीब नौकरों और मज़दूरों के बल पर । दुकानों, कम्पनियों, कारखानों और ज़मींदारियों के मालिक पूंजी-पति लोग अपने यहां काम करने वाले नौकरों और मज़दूरों को उन की मेहनत

के बदले में कम-से-कम वेतन और मज़दूरी देने का प्रयत्न करते हैं। बहुत बार तो वेतन इतना कम और मज़दूरी इतनी थोड़ी रहती है कि सेवकों और मज़-दूरों को अपने शरीर और आत्मा के संयोग को स्थिर रखना कठिन हो जाता है। यह कहा जा सकता है कि ये धनपति लोग अपने नौकरों का खून चूस कर अपना वैभव खड़ा करते हैं।

गरीबी में ही चाहे अपना जीवन बिताना पड़ता हो, पर इन नौकरों और मज़दूरों को करने के लिये कोई काम और रूखा-सूखा खाने के लिये कुछ पैसे तो मिल जाते हैं। समाज की व्यवस्था तो इतनी बिगड़ी हुई है कि लाखों आदमी बेचारे ऐसे हैं जिन्हें करने को कोई काम ही नहीं प्राप्त होता, जो दर-दर भटकने पर भी कोई काम नहीं खोज पाते। इन लोगों को बेरोज़गारी से होने वाले जो कष्ट और विपत्तियें सहनी पड़ती हैं उन की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

आज की समाज-व्यवस्था मनुष्य के आत्मा का पतन करती है

समाज की वर्तमान व्यवस्था की यह भयङ्कर बुराई तो है ही कि उस में लाखों और करोड़ों लोगों को गहरी गरीबी में रहना पड़ता है और गरीबी के वर्णनातीत कष्ट भोगने पड़ते हैं, उस की एक घोर बुराई यह है कि इस गरीबी से तंग आ कर हज़ारों व्यक्ति सचाई और धर्म का रास्ता छोड़ देते हैं। वे अपना जीवन-यापन करने के लिये अधर्म का मार्ग अपना कर दूसरों को लूटना और ठगना आरम्भ कर देते हैं। हज़ारों आदमी ठग, लुटेरे, गठ-कतरे, चोर और डाकू बन जाते हैं। इतना ही नहीं, अनेक बार दूसरों का धन छीनने के लिये लोग उन की हत्या तक कर डालते हैं। ऐसे नृशंस और पैशाचिक वृत्ति के ये लोग बन जाते हैं। इन के उदाहरण से तथा गरीबी के कारण यों भी साधारण आमदनी वाले दूसरे अनेक लोगों के मन में भी अधर्म और अन्याय का अवलम्बन कर के इसी प्रकार के कार्य करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार समाज की वर्तमान व्यवस्था अधिकांश लोगों को गरीब भी बनाये रखती है और उन्हें असत्य, अन्याय और अधर्म पर चलने वाला बना कर राक्षस-प्रकृति का भी बना देती है। आज की समाज-व्यवस्था मनुष्य को शारीरिक दृष्टि से दुःख में रखती है और आत्मिक दृष्टि से पतन के गढ़े में गिरा देती है।

आज की इस समाज-व्यवस्था में निर्धन और गरीब लोग ही आत्मिक-रूप में पतित बनते हों ऐसी बात नहीं है। इस व्यवस्था में धनपति लोग भी आत्मिक दृष्टि से पतित होते रहते हैं। वे अपने नौकरों और मज़दूरों के साथ अन्याय करते हैं। वे अपने नौकरों और मज़दूरों की आवश्यकताओं का ध्यान

नहीं रखते तथा कारखाने आदि के चलाने में उन की उपयोगिता और परिश्रम का जो अनुपात है उस का भी ध्यान नहीं रखते। वे अपने नौकरों को बहुत कम पारिश्रमिक देते हैं। वे अपने नौकरों की योग्यता और परिश्रम को लूटते रहते हैं। इस प्रकार वे अधर्म और अन्याय पर चलते रहते हैं। और अपनी आत्मा को पतित बनाते रहते हैं। इतना ही नहीं। ये धनपति लोग अपने धन को बढ़ाने के लिये चीज़ों की कीमत लागत के अनुपात से बहुत अधिक रखना, चीज़ों को कम तोलना और कम नापना, ग्राहक को यथासम्भव रद्दी-से-रद्दी चीज़ अपने स्टाक में से देना, चोर-बाज़ारी करना आदि के अन्याय और अधर्म के काम भी करते रहते हैं। ये लोग जरूरतमन्द और निर्धन लोगों को ऋण भी देते रहते हैं। उस ऋण पर बहुत भारी ब्याज लेते हैं। अपढ़ किसानों और निम्न स्थिति के लोगों को तो ये लोग ऋण दे कर उन का खून ही पी लेते हैं। एक बार लिया गया ऋण कभी चुकने ही नहीं पाता। ब्याज का हिसाब रखने में निहायत धोखे और झूठ का व्यवहार करते हैं। ब्याज लगते-लगते ऋण की राशि इतनी बढ़ जाती है कि ऋण लेने वाले बेचारे इन किसानों और मज़दूरों के लिये उसे चुका सकना असम्भव हो जाता है। तब ये धनपति लोग अपना ऋण वसूल करने के लिये इन गरीबों की जमीन-जायदाद और दूसरे सामान को भी कुड़क करवा लेते हैं। इस प्रकार के अधर्म के आसुरी कार्य ये धनपति लोग करते रहते हैं और अपनी आत्मा को पतित बनाते रहते हैं। इतना बुरा वर्तमान समाज-व्यवस्था लोगों को बना देती है।

२

आज धन की बेहद पूजा होती है

वर्तमान समाज-व्यवस्था का आधार धन है। इस व्यवस्था में धन एक देवता बना हुआ है। उसने ईश्वर का स्थान ले रखा है। आज की समाज-व्यवस्था में धन ही सब कुछ है। आज धन की पूजा होती है। जब धन ही मनुष्य का उपास्यदेव बन गया है—जब धन ही सभी कुछ है—तो धन को प्राप्त करने के लिये मनुष्य सभी कुछ करेगा। वह सत्य-असत्य, न्याय-अन्याय और धर्म-अधर्म की परवाह न कर के जिस किसी तरह भी होगा धनोपार्जन करने का प्रयत्न करेगा। उस के लिये वह ऊपर निर्दिष्ट सभी काम करने के लिये उद्यत रहेगा। वह अपने नौकरों और मज़दूरों की योग्यता और परिश्रम को भी, उन्हें कम पारिश्रमिक दे कर, लूटने में संकोच नहीं करेगा और सर्व-

साधारण जनता को भी ठगने में नहीं हिचकेगा। उसे तो सत्य से हो, असत्य से हो, धन कमाना है।

आज मनुष्य को जो कुछ भी प्राप्त होता है वह सब धन से ही प्राप्त होता है। हमें खाने को अन्न, पहिनने को वस्त्र, रहने को मकान और शरीर के सुख के दूसरे सब सामान धन से ही प्राप्त होते हैं। हमें समाज में यश और प्रतिष्ठा भी धन से ही प्राप्त होते हैं। जो जितना अधिक धनी है, जो जितना टैक्स सरकार को देता है, वह उतना ही अधिक प्रतिष्ठित व्यक्ति समझा जाता है। उसे सभा-सोसाइटियों में, जलसे-उत्सवों में और राजदरबारों में सब से आगे कुर्सी मिलती है। उस के ऐबों पर परदा डला रहता है। संस्थाओं वाले लोग उस की खुशामद करते नहीं थकते और थोड़ी सी भी सहायता मिल जाने पर उस की प्रशंसा के पुल बाँध दिये जाते हैं। आज अपने बच्चों को पढ़ा-लिखा कर योग्य भी वही बना सकता है जिस के पास धन है। धन खर्च कर के शिक्षा प्राप्त कर सकने वाले लोग ही राजकीय नौकरियों को प्राप्त कर सकते हैं। इन पदों तक पहुंचने के लिये और भी जो दौड़-धूप करनी पड़ती है उस के लिये भी धन की आवश्यकता रहती है। इस प्रकार शासन और हुकूमत भी धन से ही प्राप्त होते हैं।

आज के प्रजातन्त्रों में भी धन का ही बोल-बाला है

इतना ही नहीं। कहा जाता है कि प्रजातन्त्रीय शासन-पद्धति में असल में तो राज-सत्ता और शासन सर्वसाधारण जनता के ही हाथों में रहता है। यह कहने की ही बात है। आजकल की प्रजातन्त्र-पद्धति में तो राज-सत्ता और शासन उन्हीं लोगों के हाथों में रहता है जिन के पास धन होता है। आजकल के चुनाव लड़ने में और मतदाताओं से अपने लिये मत प्राप्त करने में धन की एक भारी राशि खर्च करनी पड़ती है। जो व्यक्ति उतना धन खर्च नहीं कर सकता वह असैम्बलियों और पार्लियामेंटों में नहीं चुना जा सकता। कोई कितना भी योग्य क्यों न हो, जिस के पास धन नहीं है वह राज्य की इन विधान-सभाओं में नहीं पहुँच सकता। कहने को चाहे कुछ कहा जाता रहे पर परिस्थिति ऐसी है कि आज की समाज-व्यवस्था में प्रजातन्त्रीय शासन-पद्धति में भी असैम्बलियों और पार्लियामेण्टों के सदस्य वे ही बन सकते हैं जिन के पास रुपया होता है। खाली योग्यता की पहुँच वहां नहीं है। इस प्रकार आज राज-सत्ता और शासन भी धन वालों को ही मिलता है।

शासकों का उद्देश्य भी धन कमाना ही रहता है

फिर एक बात और है। आज की धन से प्रभावित इस दूषित समाज-

व्यवस्था में जो लोग राज्याधिकारी बनते हैं उन की वृत्ति न्याय और धर्म का शासन चला कर प्रजा का कल्याण करने की नहीं होती। वे तो राजकीय पदों पर भी धन कमाने की दृष्टि से ही जाते हैं। क्यों कि इन पदों का वेतन बहुत अधिक रहता है, इन के साथ अन्य अनेक प्रकार की सुख-सुविधायें लगी रहती हैं, और इन पदों पर पहुँच कर वे और भी कई तरीकों से धन कमा सकते हैं। ये राजकर्मचारी भी धनपतियों का ही एक वर्ग होते हैं और उन के साथ मिल कर ये भी प्रजा का खून चूसते रहते हैं। इस प्रकार आज सभी में धन की इतनी अधिक तृष्णा है।

धन-लिप्सु राष्ट्र अन्य राष्ट्रों पर घोर अत्याचार करते हैं

धन के इस सर्वग्रासी प्रभाव से प्रभावित हो कर धन-लिप्सु लोग अपने देश के लोगों के साथ तो अन्याय और अधर्म का व्यवहार करते ही रहते हैं, उन का यह पापाचार इस से आगे भी बढ़ता है। वे धन के लोभ और लालसा के वश में हो कर संसार-भर की धन-सम्पत्ति को अपने घर में भर लेना चाहते हैं। ये सब धन के लोभी लोग राष्ट्र-रूप में संगठित हो कर दूसरे दुर्बल देशों पर आक्रमण कर के उन्हें अपना गुलाम बना लेते हैं। धन-लिप्सु लोगों के ये राष्ट्र इन दुर्बल देशों को जीतने के समय उन पर जो विपत्ति के पहाड़ ला गिराते हैं, उन की धन-संपत्ति का जो भारी विध्वंस और उन की जनता का जो असीम संहार करते हैं, वह तो करते ही हैं, उन्हें अधीन करने के पश्चात् उन पर निरन्तर जो अत्याचार करते रहते हैं वे तो वर्णनातीत होते है। अपने अधीन राष्ट्रों को वे पनपने नहीं देते। उन्हें पंगु बना कर रख देते हैं। वहाँ के व्यापार को नष्ट कर देते हैं। उन के कला-कौशल को मिटा देते हैं। उन की संस्कृति और सभ्यता का उच्छेद कर देते हैं। उन की परम्परा से चली आ रही राष्ट्रिय शिक्षा को विध्वस्त कर देते हैं। उन की भाषा का विनाश कर देते हैं और उस के स्थान पर अपनी भाषा को उन पर थोप देते हैं। उन के इतिहास को बिगाड़ देते हैं। और इस गलत इतिहास को पाठशालाओं में पढ़ा कर उभर रही नई पीढ़ी पर यह प्रभाव डालते हैं कि उन के पूर्वज तो अशिक्षित, असभ्य और जंगली होते थे, उन के ये नये शासक ही सभ्य और शिक्षित हैं। यह सब वे इस लिये करते हैं कि पराजित राष्ट्र के लोग स्वतन्त्र होने का यत्न न करें और अपने इन शासकों को देवता मान कर सदा इन के गुलाम बने रहें। ये धन-लिप्सु राष्ट्र अपने अधीनस्थ राष्ट्रों के लोगों को अपने लिये पानी भर कर और लकड़ी काट कर लाने वालों की स्थिति में पहुंचा देते हैं। अधीनस्थ राष्ट्रों की जनता का काम केवल खेती कर के अपने

शासकों के कारखानों के लिये कच्चा माल पैदा करना और अपने शासकों की मजदूरी और नौकरी करना-भर रह जाता है। पराधीन राष्ट्र इन धन-लिप्सु राष्ट्रों के कारखानों में तैयार किये गये माल के बिकने के बाज़ार-मात्र रह जाते हैं। और अपने शासक देश के कारखानों का यह माल पराधीन देश के लोगों को ज़बरदस्ती खरीदना पड़ता है। पराधीन देशों की जनता को हद दर्जे की गरीबी की अवस्था में पहुंचा दिया जाता है। इतना ही नहीं। इन धन-लिप्सु राष्ट्रों के गर्वित शासक लोग पराधीन राष्ट्र के लोगों में भी आत्मा है, वे भी मानापमान को अनुभव करते हैं, यह समझना ही छोड़ देते हैं। वे पराधीन राष्ट्र के लोगों का पग-पग पर अपमान करते हैं। उन के साथ कुत्ते और बिल्लियों से भी बुरा बर्ताव ये लोग करते हैं। विजेता राष्ट्रों द्वारा विजित राष्ट्रों पर किये गये अन्याय और अत्याचारों की दुःख-भरी कहानी से इतिहास भरा पड़ा है। दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। अपने शासन-काल में अंग्रेज़ शासकों ने हमारे देश भारत की जो दयनीय दीन दशा बना रखा रखी थी उस से हम सब भली-भांति परिचित हैं। अपने धन-वैभव को बढ़ाने की लालसा के वशीभूत हो कर जब किसी राष्ट्र के लोग दूसरे राष्ट्रों को अपने अधीन बनाने चलते हैं तो वे निरे पशु और राक्षस बन जाते हैं, और, जब तक वे राष्ट्र उन के अधीन रहते हैं तब तक उन पर वे अपने पाशविक और राक्षसी अत्याचारों की झड़ी लगाये रहते हैं। धन का लोभ उन की आत्मा को बिल्कुल मार देता है।

भीषण युद्धों का मूल-कारण धन-लिप्सा

धन का यह लोभ एक और काण्ड खिलाता है। धन का लोभ मनुष्यों को ईर्ष्यालु बना देता है। एक की समृद्धि को देख कर दूसरा उस से जलने लगता है और उस की हानि के प्रयत्न में रहता है। लोगों के दैनिक जीवन में यह ईर्ष्या की वृत्ति काम करती हुई दिखाई देती है। राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी यह वृत्ति काम करती है। और वहां इस ईर्ष्या की वृत्ति के बहुत ही भयङ्कर परिणाम निकलते हैं। जब एक सबल धन-लिप्सु राष्ट्र किन्हीं दूसरे देशों को गुलाम बना कर वहां अपने बाज़ार बना लेता है तो दूसरे सबल धन-लिप्सु राष्ट्र को उस से ईर्ष्या होने लगती है। ईर्ष्या के वशीभूत हो कर यह दूसरा धनलिप्सु राष्ट्र पहले धनलिप्सु राष्ट्र के इन विदेशी बाज़ारों को छीनना चाहता है या उन में अपना भी हिस्सा रखना चाहता है जिस से वह अपने देश के कारखानों का माल वहां खपा सके। पहले धनलिप्सु राष्ट्र को यह बात पसन्द नहीं हो सकती। वह अपने लाभ को कम कैसे होने दे? धन के लोभ से उत्पन्न होने वाली ईर्ष्या की यह आग सुलगती रहती है और एक दिन प्रबल हो

कर क्रोध का रूप धारण कर लेती है। और दोनों राष्ट्रों में युद्ध छिड़ जाता है। युद्ध के परिणाम-स्वरूप दोनों राष्ट्रों का अपार जन-संहार और सम्पत्ति-विनाश होता है। दोनों राष्ट्रों की जनता चली थी अपने को अधिक वैभव और सुख-समृद्धिशाली बनाने, पर लोभ से जलाई गई ईर्ष्या की आग में पड़ कर परस्पर युद्ध कर के वह अपने को विपत्ति और कष्टों के समुद्र में डुबो लेती है।

अनेक वार ऐसा भी होता है कि ये युद्ध केवल दो राष्ट्रों तक ही सीमित नहीं रहते। इन में युद्ध छिड़ने के थोड़े ही समय पश्चात् धीरे-धीरे कर के धरती के प्रायः सभी राष्ट्र, कोई एक का और कोई दूसरे का पक्ष लेकर, युद्ध में आ कूदते हैं। और वह युद्ध केवल दो राष्ट्रों का न रह कर सारे विश्व का युद्ध बन जाता है। पिछला १९१४-१९१८ का महायुद्ध इसी प्रकार का विश्वयुद्ध था। यह युद्ध आरम्भ में हुआ था अंग्रेज़ों और जर्मनों के बीच में। पर युद्ध आरंभ होने के थोड़े ही काल के पश्चात् धरती के प्रायः सभी बड़े-बड़े राष्ट्र इस युद्ध में कूद पड़े थे। इस विश्व युद्ध में सारे मानव-समाज को जो कष्ट और विपत्तियें सहनी पड़ी थीं, सभी देशों की जो अपार जन-हानि और धन-हानि हुई थी, उस के आंकड़ों को देख कर दिल दहल उठता है। रणचण्डी के उस ताण्डव-नृत्य से राष्ट्रों के घर-घर में दुःख और शोक के सिन्धु उमड़ पड़े थे। इस युद्ध के परिणाम-स्वरूप लाखों-हज़ारों गांव उजड़ गये थे—उन के मकान धूल में मिल गये थे और उन की खेती की ज़मीनें बरबाद हो गई थीं। लाखों लोग बेघरबार हो गये थे। लाखों लोग मारे गये थे। लाखों पत्नियें विधवा हो गई थीं। लाखों बच्चे अनाथ हो गये थे। लाखों बहिनें बिना भाइयों की हो गई थीं। और लाखों माता-पिता बिना संतान के हो गये थे। लाखों लोगों के हाथ-पैर कट गये थे और लाखों अन्धे हो गये थे। मन पर लगने वाले युद्ध के धक्के से हज़ारों आदमी पागल हो गये थे। यह परिणाम हुआ था धनलिप्सा से जलाई गई ईर्ष्या की आग से पैदा हुए उस महायुद्ध का! मनुष्य मनुष्य को खाने वाला बन गया था!

और सन् १९३९-४५ में जो द्वितीय विश्व-युद्ध हुआ था उस की प्रलयङ्कर भीषणता तो प्रथम विश्व-युद्ध की भीषणता को भी कहीं पीछे छोड़ गई थी। विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के लोगों को इस युद्ध के कारण वे सब कष्ट उस से भी कहीं अधिक मात्रा में सहने पड़े हैं जिस मात्रा में प्रथम युद्ध के कारण सहने पड़े थे। इस द्वितीय विश्व-युद्ध में अकेले जर्मनी और रूस के युद्ध-क्षेत्र में प्रतिदिन कोई बीस हज़ार सैनिक मारे जा रहे थे। अन्य युद्ध-क्षेत्रों की बात इस से अलग है। जर्मनी ने इङ्गलैण्ड पर जो बम बरसाये थे उन से इङ्गलैण्ड के प्रत्येक तीन

घरों में से एक घर सर्वथा विध्वस्त हो गया था। इतनी भीषण थी जर्मनी की वह बम-वर्षा ! इङ्गलैण्ड और अमेरिका ने जर्मनी पर जो बम-वर्षा की थी वह भी इतनी ही भीषण और संहारकारी थी। अमेरिका ने जापान पर जो बम-वर्षा की थी वह इतनी भीषण थी कि उस से अकेले टोकियो नगर में ८० हज़ार आदमी मारे गये थे जिन में २५ हज़ार तो बच्चे थे। टोकियो के लगभग सभी घर विध्वस्त हो गये थे। अमेरिका ने जापान के हिरोशिमा और नागासाकी नगरों पर जो अणुबम (Atom-Bomb) गिराये थे वे इतने घोर संहारकारी थे कि केवल एक-एक अणुबम से कई-कई लाख की आबादी के ये दोनों नगर सर्वथा विनष्ट हो गये थे। इस विश्व-युद्ध में लड़ने वाले देशों की जो अपार धन-सम्पत्ति विनष्ट हुई थी उस की कोई सीमा नहीं है। इस युद्ध में हुई अग्नि-वर्षा के कारण जहां लाखों आदमी मारे गये वहां करोड़ों लोग उजड़ कर बेघरबार और आश्रयहीन हो गये थे। इतनी प्रचण्ड थी इस युद्ध की भीषणता[1] ! इन दोनों विश्व युद्धों ने धरती पर काल-रात्रि ला दी थी।

आज के समाज में जिस की इतनी पूजा होती है उस सर्व-ग्रासी धन का लोभ मनुष्य को ऐसा राक्षस और पिशाच बना देता है।

सीमातीत धनलिप्सा के घोर दुष्परिणाम

जब समाज में धन की महत्ता बेहद बढ़ जाती है, जब मनुष्य के लिये धन ही धन सब कुछ हो जाता है, जब सुख-आराम, मान-प्रतिष्ठा और शासन

---

१. द्वितीय विश्व-युद्ध में मृत व्यक्तियों की संख्या इस प्रकार है--

कुल मृत व्यक्तियों की संख्या ९५ लाख से १ करोड़ के बीच में है। जर्मन पक्ष के मृत व्यक्ति ५२ लाख, मित्रराष्ट्रों के ४५ लाख। जर्मनी की हानि सब से अधिक हुई, उस के ३२,५०,००० व्यक्ति मरे। जापान के १५ लाख, इटली के १½ से २ लाख, रूमानिया के १ लाख, हंगरी के ७५ हज़ार और फिनलैण्ड के ५० हज़ार व्यक्ति मरे। मित्रराष्ट्रों में रूस की हानि सब से अधिक हुई, उस के ३० लाख व्यक्ति मरे। अमरीका (U. S. A.) के ३,२५,००० , ब्रिटिश साम्राज्य के ३,७५,००० से ४,००,०००। फ्रांस के १,५७,००० ,पोलैण्ड के १,२५,००० ,यूगोस्लाविया के ७५,००० , यूनान के ५०,००० , बेल्जियम के ७,००० , हालैण्ड के ६००० , नार्वे के १००० , और (पर्लहाबर के बाद से) चीन के २,५०,००० व्यक्ति मरे। इन आंकड़ों में केवल सैनिक मृत्युयें ही हैं। सैनिक तथा नागरिक (Civilian) मृतकों की कुल संख्या २ करोड़ २० लाख ६० हज़ार है। तथा आहतों की संख्या ३ करोड़ ४४ लाख है। इस प्रकार हताहतों की कुल संख्या ५ करोड़ ६४ लाख ६० हज़ार है। [गिलिन (J. H. Gillin तथा J. P. Gillin) की कल्चरल सोशियोलोजी (Cultural Sociology), मैकमिलन, न्यूयार्क १९४८, में पृष्ठ १०९ पर दिये आंकड़ों से]।

की शक्ति, सब कुछ धन से ही प्राप्त होने लगता है और इस प्रकार जब समाज धन को देवता मान कर उस की उपासना करने वाला पूंजीवादी समाज बन जाता है, तो लोगों में धन की तृष्णा सीमातीत हो जाती है। और धन का यह सीमातीत लोभ दुकानदारों, कम्पनी वालों, कारखाने वालों और ज़मींदारों द्वारा अपने नौकरों और मज़दूरों पर, राज्याधिकारियों द्वारा अपनी प्रजा पर तथा राष्ट्रों द्वारा दूसरे राष्ट्रों की प्रजा पर उस प्रकार के घोर अन्याय और नृशंस अत्याचार करवाता है जिन का कुछ हलका-सा दिग्दर्शन ऊपर के पृष्ठों में कराया गया है।

३

आज की समाज-व्यवस्था पूंजीवादी है

धन पर आधारित, धन को ही सब कुछ समझने वाली, धन की ही पूजा करने वाली, यह पूंजीवादी समाज-व्यवस्था आज संसार के सभी देशों में चल रही है। रूस जैसे कुछ थोड़े से राष्ट्रों को छोड़ कर धरती के सभी राष्ट्रों का आज का समाज पूंजीवादी है। इस पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के कारण सभी राष्ट्रों की जनता के एक बहुत बड़े भाग को अभाव और गरीबी का, दुःख और कष्टों का, जीवन बिताना पड़ता है।

पूंजीवादी समाज-व्यवस्था को बदलना होगा

यदि धरती के मानव ने इन अन्याय और अत्याचारों तथा इन दुःख और कष्टों से छुटकारा पाना है तो समाज़ की इस पूंजीवादी व्यवस्था को बदलना पड़ेगा। और उस के स्थान पर समाज की कोई दूसरी व्यवस्था बनानी होगी——समाज का संघटन किसी दूसरे आधार पर करना होगा।

साम्यवाद (कम्युनिज्म)

इस युग में जर्मनी के महान् विचारक कार्लमार्क्स ने पूंजीवादी समाज-व्यवस्था की बुराइयों को अनुभव किया और उस के विरुद्ध आवाज़ उठाई। योरोप के अनेक विचारक कार्लमार्क्स के अनुयायी बन गये। रूस का आधुनिक युग का महान् नेता लेनिन भी कार्लमार्क्स का अनुयायी बन गया। लेनिन के नेतृत्व में रूस के कम्युनिस्ट लोगों ने सन् १९१७ के अक्टूबर की क्रान्ति द्वारा पूंजीवाद की प्रतीक और जनता पर मनमाना अत्याचार करने वाली ज़ारशाही को भी दफना दिया और समाज की पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था को भी अपने देश से उखाड़ फैंका। कार्लमार्क्स के अनुयायी रूस के साम्यवादी (कम्युनिस्ट) लोग पूंजीवाद के स्थान पर अपनी साम्यवाद (कम्युनिज़्म) की व्यवस्था उप-

स्थित करते हैं। और कहते हैं कि पूंजीवाद की बुराइयों का प्रतीकार एकमात्र साम्यवादी समाज-व्यवस्था की स्थापना से ही हो सकता है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था

वैदिक धर्म भी समाज की एक व्यवस्था--समाज का एक संघटन--बताता है। वैदिक धर्म समाज की जो व्यवस्था बताता है उस में पूंजीवाद में जो बुराइयें हैं वे नहीं पाई जातीं। हमारी सम्मति में पूंजीवाद की अपेक्षा साम्यवाद (कम्युनिज्म) की पद्धति अधिक अच्छी है। परन्तु हमारे विचार में साम्यवाद में भी कुछ दोष हैं। वैदिक समाज-व्यवस्था में साम्यवाद के दोष भी नहीं पाये जाते। पूंजीवाद के और साम्यवाद के जो गुण हैं वे वैदिक समाज-व्यवस्था में विद्यमान हैं। संसार में सच्ची सुख-शान्ति स्थापित करने के लिये हमें पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों के स्थान में वैदिक समाज-व्यवस्था को अपनाना चाहिये। वैदिक धर्म समाज की जो व्यवस्था बताता है उस का नाम है--वर्णाश्रम व्यवस्था।

४

कोई भूखा नहीं मरना चाहिये

साम्यवाद कहता है कि अभाव और गरीबी के कारण किसी को कष्ट नहीं मिलना चाहिये। धन के अभाव से कोई भूखा-नंगा नहीं रहना चाहिये। सब को भली-भाँति खाने-पीने और पहिनने को मिलना चाहिये। यह बात सही है। वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति भी यही बात कहती है। वेद कहता है--"निश्चय ही परमात्मा ने भूख को मृत्यु का साधन नहीं बनाया है[1]।" वेद की सम्मति में प्रजा के किसी भी व्यक्ति को भूख का कष्ट नहीं होना चाहिये। सब को यथेष्ट खाने को मिलना चाहिये। भूख तो उपलक्षणमात्र है--संकेतमात्र है। भूख हमारे जीवन की प्रधान आवश्यकताओं में से एक है। भूख की भाँति हमारे जीवन की अन्य सब प्रधान आवश्यकतायें भी भली-भाँति पूरी हो सकनी चाहियें।

पांच आलम्बन पदार्थ

हमारे जीवन की प्रधान आवश्यकतायें पाँच हैं। (१) हमें खाने के लिये पौष्टिक अन्न मिलना चाहिये, (२) पहिनने के लिये वस्त्र मिलने चाहियें जिन से ऋतुओं की कठोरता से हमारे शरीर की रक्षा हो सके, (३) रहने के लिये स्वच्छ, हवादार और रोशनीदार मकान मिलने चाहियें जिन में अपने परिवार

---

१. न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुः। ऋग्. १०. ११७. १।

के साथ हम आराम से रह सकें, (४) रोगी होने पर हमें उत्तम से उत्तम चिकित्सा मिल सकनी चाहिये, और (५) हमारे बालकों को ऊंची से ऊंची शिक्षा मिल सकनी चाहिये। ये पांचों चीजें हमारे जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। इन के बिना हम न सुख से जी सकते हैं और न किसी प्रकार की उन्नति ही कर सकते हैं। ये पाँचों चीज़ें हमारे जीवन के "आलम्बन-पदार्थ" हैं। इन पाँचों पर हमारा जीवन, उस का सुख और उस की उन्नति, अवलम्बित है। ये पाँचों "आलम्बन-पदार्थ" राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को मिलने चाहियें और इस रूप में मिलने चाहियें कि उन से व्यक्ति की आवश्यकता अच्छी तरह पूरी हो सके। इन पाँचों "आलम्बन-पदार्थों" की प्राप्ति प्रत्येक प्रजाजन को होनी चाहिये वेद का ऐसा स्पष्ट आदेश है। वेद में स्थान-स्थान पर प्रजाजन परमात्मा से और अपने राजा से इन की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं। वेद में स्थान-स्थान पर राजा का कर्तव्य बताया गया है कि वह अपनी प्रजाओं को इन पांचों पदार्थों की प्राप्ति कराये। इस प्रकार के वर्णनों से वेद भरे पड़े हैं[1]। यदि किसी राष्ट्र के लोगों को ये पाँचों पदार्थ नहीं प्राप्त होते हैं तो निश्चय ही उस राष्ट्र की व्यवस्था—समाज व्यवस्था और राज्य व्यवस्था—दूषित है। आज जो संसार के सब लोगों को ये पांचों पदार्थ भली-भांति प्राप्त नहीं होते उस का कारण आज की समाज और राज्य की पूंजीवादी व्यवस्था है। आज का समाज और आज का राज्य पूंजीवाद पर खड़ा है। और उस के कारण अधिकांश लोगों को ये पाँचों पदार्थ आवश्यकतानुसार प्राप्त नहीं होते।

अनुबन्ध पदार्थ

जीवन की इन हमारी पाँच प्रधान आवश्यकताओं के अतिरिक्त—जीवन के लिये आवश्यक इन पांच "आलम्बन-पदार्थों" के अतिरिक्त—हमारे जीवन की कुछ गौण आवश्यकतायें भी रहती हैं। ये गौण आवश्यकतायें हमारे जीवन में सुख और हर्ष की मात्रा को बढ़ाने के लिये होती हैं। जैसे, खाने-पीने, पहिनने, रहने, चिकित्सा और शिक्षा की हमारी आवश्यकतायें अच्छी तरह पूरी हो जाने के बाद यदि हमारे घर में टैलीफोन और रेडियो भी लगा हो तो और अच्छा है, हमारे मकान के चारों ओर अच्छी फुलवारी लगी हो तो और अच्छा है, हमारे घर भाँति-भाँति की कला-कृतियों से विभूषित हों तो और अच्छा है, बाहर आने-जाने के लिये हमारे पास अपनी

१. इस सम्बन्ध में हम ने अपने ग्रंथ "वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त" के शिक्षा, कृषि, स्वास्थ्य, गृहनिर्माण और वस्त्र-परिधान आदि प्रकरणों में विस्तार से विचार किया है।

कोई निज की गाड़ी हो तो और अच्छा है। इस प्रकार के पदार्थ हमारे जीवन के लिये आवश्यक नहीं हैं—इन पर हमारा जीवन अवलम्बित नहीं है। हम इन के बिना भी अपना काम चला सकते हैं। किन्तु यदि ये पदार्थ हमारे पास हों तो इन से हमारे जीवन में सुख की मात्रा बढ़ जाती है। ये पदार्थ हमारे जीवन की प्रधान आवश्यकता (Primary Needs) न हो कर गौण आवश्यकतायें (Secondary Needs) हैं। इन गौण पदार्थों को "अनुबन्ध-पदार्थ" कहा जाता है। ये "अनुबन्ध-पदार्थ" भी यथा-संभव अधिक से अधिक लोगों को प्राप्त हो सकें इस का प्रयत्न भी राष्ट्र में होना चाहिये। वेद में जीवन की प्रधान पांच आवश्यकताओं की पूर्ति की प्रार्थनाओं के अतिरिक्त जीवन में सुख की मात्रा को बढ़ाने वाली अन्य सामग्री की भी प्रार्थनायें हैं और राजा के लिये आदेश है कि वह प्रजाओं को यह सामग्री भी प्राप्त कराये[1]। "अनुबन्ध-पदार्थ" भी सब को मिल सकें तो अच्छा है और इस के लिये प्रयत्न भी होना चाहिये, परन्तु पांचों "आलम्बन-पदार्थ" तो प्रत्येक प्रजाजन को अच्छी तरह मिलने ही चाहियें।

५

पूंजीवाद लोभ और संचय-शीलता पर आधारित है

पूंजीवादी व्यवस्था में इन पदार्थों को राष्ट्र के सर्वसाधारण लोगों को मिल सकने की संभावना नहीं रहती। क्योंकि पूंजीवादी व्यवस्था आदमी को लोभी और संचय-शील बना देती है। लोभ और संचय की प्रवृत्ति के वशीभूत हुए कुछ थोड़े से लोग, जिन के पास साधन और शक्ति होती है, ऐसा उपाय कर लेते हैं जिस से राष्ट्र की प्राकृतिक सामग्री से उत्पन्न होने वाला सारा धन-वैभव उन्हीं के पास सीमित रहता है और सर्वसाधारण जनता तक नहीं पहुँचने पाता। और ये थोड़े से धनपति लोग राष्ट्र की प्राकृतिक सामग्री से उपजने वाले धन-वैभव को अपने हाथों में ही सीमित रखने के लिये, जैसा ऊपर दिखाया गया है, सभी प्रकार के अच्छे-बुरे तरीकों का आश्रय लेते रहते हैं।

वर्णाश्रम-व्यवस्था में धन का सर्वोपरि महत्व नहीं है

पूंजीवाद का यह दोष वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में नहीं है। वर्णा-श्रम-व्यवस्था में धन की महत्ता को बहुत कम कर दिया जाता है। पूंजीवाद में

---

१. हम ने अपने ग्रन्थ "वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त" के राष्ट्र के सौभाग्य की उन्नति आदि प्रकरणों में इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है।

धन की महत्ता सर्वोपरि रहती है। वहाँ धन ही सब कुछ है। वर्णाश्रम-व्यवस्था में यह बात नहीं है। वहाँ धन का स्थान बहुत कम महत्त्व का है। धन के इस महत्त्व को वर्णाश्रम-व्यवस्था में कई प्रकार से कम किया गया है। इस सम्बन्ध में निम्न बातें ध्यान में रखने योग्य हैं।

वर्णाश्रम-व्यवस्था त्याग के जीवन पर बल देती है

वर्णाश्रम-व्यवस्था में त्याग के जीवन पर बहुत अधिक बल दिया गया है। मनुष्य को धन-सम्पत्ति के मोह में नहीं फंसना चाहिये--धन-सम्पत्ति में उसे लिप्त नहीं रहना चाहिये। उसे धन-सम्पत्ति में लिप्त न हो कर त्याग-पूर्वक उस का भोग करना चाहिये। वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति के जीवन का यह एक मुख्य सिद्धान्त है। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में, जिसे हलके शाब्दिक परिवर्तन के साथ ईशोपनिषद् भी कहा जाता है, मनुष्य को उपदेश दिया गया है कि "हे मनुष्य ! इस जगत् के सब पदार्थों में परमेश्वर रमे हुए हैं इसलिये संसार के पदार्थों का त्यागपूर्वक उपभोग कर, किसी के धन में लोभ-लालच मत कर[1]।" वेद के इस उपदेश का भाव यह है कि मनुष्य को सदा यह स्मरण रखना चाहिये कि परमात्मा सर्व-व्यापक हो कर सब जगह रमे हुए हैं--कोई जगह उन से खाली नहीं है, वे हमारे प्रत्येक कर्म को देख रहे हैं, इसलिये हमें लोभ में फंस कर दूसरों की सम्पत्ति की ओर लालच-भरी आँखों से नहीं देखना चाहिये और लोभ की इस वृत्ति से पैदा होने वाले अपराधों को नहीं करना चाहिये, और लोभ से बचने के लिये हमें धन-सम्पत्ति में लिप्त न हो कर उस का त्याग-पूर्वक उपभोग करना चाहिये। इस मन्त्र का दूसरा अर्थ यह भी किया जाता है कि "हे मनुष्य ! इस जगत् के सब पदार्थों में परमेश्वर रम रहे हैं, इसलिये उस परमेश्वर द्वारा त्याग किये हुए अर्थात् दिये हुए पदार्थों का उपभोग कर, लोभ-लालच मत कर, धन किस का है ? अर्थात् किसी का भी नहीं है।" इस अर्थ में वेद के इस मन्त्र का भाव यह है कि मनुष्य को परमात्मा ने जितना दिया है उसी पर उसे सन्तोष करना चाहिये, उसे धन-सम्पत्ति का लोभ नहीं करना चाहिये और लोभ से पैदा होने वाले अपराध नहीं करने चाहियें, हमारे सब अपराधों को सर्व-व्यापक परमात्मा देख रहे हैं, अतः लोभ और उस से उत्पन्न अपराधों से हमें दूर रहना चाहिये, हम धन का लोभ कर के पाप क्यों करें ? धन किस का है ? किस के साथ यह जाता है ? यह तो

---

१. ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ।। यजु. ४०. १ ।

यहीं रह जाता है। धन किस के पास सदा रहा है ? यह तो आज है और कल नहीं है। इसलिये धन के लोभ में फंस कर हमें पाप नहीं करने चाहियें। वैदिक धर्मियों के सभी शास्त्र त्यागमय जीवन के उपदेशों से भरे पड़े हैं। वेद और शास्त्रों के इन उपदेशों को जो लोग सदा स्मरण रखेंगे, धन-सम्पत्ति में लिप्त न हो कर लोभ की वृत्ति से जो सदा परे रहेंगे और लोभ से दूर रहने के लिये जो त्याग का जीवन रखेंगे, वे लोग उन सब बुराइयों से दूर रहेंगे जो पूंजीवादी लोगों में आ जाती हैं। ऐसे लोगो के लिये धन ही सब कुछ नहीं रह जायेगा। धन उन के लिये बहुत गौण हो जायेगा।

वर्णाश्रम-व्यवस्था दान पर बल देती है

वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में दान पर बड़ा बल दिया गया है। वेद में दान के सम्बन्ध में सूक्त के सूक्त[1] आते हैं जिन में बड़े कवितामय ढंग में उपदेश दिया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी धन-सम्पत्ति का दूसरे मनुष्यों के कल्याण के लिये दान करते रहना चाहिये। अथर्ववेद में एक जगह कहा गया है कि "हे मनुष्य ! तुम सौ हाथों से धन कमाओ और हजार हाथों से उस का दान करो[2]।" वेद के इस कवितामय वर्णन का भाव यह है कि मनुष्य को खूब प्रयत्न और पुरुषार्थ से धन-सम्पत्ति का उपार्जन करना चाहिये और अपनी उपार्जित सम्पत्ति का अधिकांश भाग लोकोपकार में दान कर देना चाहिये।

वेद के इस प्रकार के उपदेशों के आधार पर वैदिक-धर्मियों के मनुस्मृति[3] आदि सभी धर्मशास्त्रों में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सभी का दान करना एक आवश्यक कर्तव्य बताया गया है। प्राचीन समय में जब स्नातक लोग विद्या पढ़ कर गुरुकुलों से वापिस अपने घरों को आने लगते थे तो आचार्य लोग उन्हें बिदाई के उपदेश के रूप में अनेक सुन्दर शिक्षायें दिया करते थे। आजकल की भाषा में इस उपदेश को दीक्षान्त-भाषण या कनवोकेशनल ऐड्रेस (Convocational Address) कहा जा सकता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में प्राचीन काल का इस प्रकार का एक दीक्षान्त-भाषण मिलता है। उस में आचार्य अपने स्नातकों को और-और हिदायतों के साथ एक हिदायत यह भी

१. उदाहरण के लिये देखो ऋग्. १०. १०७, ऋग्. १०. ११७, ऋग् १०. १५१ सूक्त।

२. शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर। अथर्व. ३. २४. ५।

३. मनु. १. ८८, ८९, ९० में ब्राह्मणादि वर्णों के कर्तव्यों का वर्णन करते हुए सब वर्णों का दान एक आवश्यक कर्तव्य बताया गया है।

देता है कि उन्हें गृहस्थ-आश्रम में जा कर दान अवश्य करना चाहिये। दान पर बल देते हुए आचार्य कहता है—"श्रद्धा से दो, अश्रद्धा से दो, शोभा (यश) के लिये दो, लज्जा से दो, भय से दो, प्रतिज्ञा से दो[1]"। अर्थात् किसी भी कारण से दो, दो अवश्य। दान पर इतना अधिक बल उपनिषद् में दिया गया है। हमारे धर्मशास्त्रों के अनुसार जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य दान नहीं करता है वह अपने धर्म का पालन नहीं करता है। दान करना ब्राह्मणादि वर्णों के लोगों का एक आवश्यक धर्म है जिस में कभी नागा नहीं होना चाहिये। महाभारत आदि ग्रन्थों में इस प्रकार के उपदेश भी आते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आय का कम से कम दसवां भाग दान अवश्य करना चाहिये[2]। एक तो हमें त्याग का जीवन बसर करना है, धन के लोभ में पड़ कर उस के पीछे पागल हो कर नहीं दौड़ना है, और फिर जो कुछ धन-सम्पत्ति हम ने कमानी भी है उस में से एक बड़ा हिस्सा दान करते रहना है। वर्णाश्रम-धर्म को मानने वाले वैदिक-धर्मियों का यह एक आवश्यक धर्म है। जो लोग वेद और शास्त्रों के इस उपदेश को मान कर दान करना अपना धर्म समझेंगे उन में धन का अनुचित मोह और लोभ नहीं पैदा होगा और वे लोभ के वशीभूत हो कर उस प्रकार की बुराइयें नहीं करेंगे जिस प्रकार की बुराइयें पूंजीपति लोग करते हैं।

वर्णाश्रम-व्यवस्था सम्पत्ति को बांट कर भोगने पर बल देती है

हम जो कुछ कमायें वह हमें स्वार्थी बन कर स्वयं अकेले ही नहीं खा जाना चाहिये। हमें अपनी धन-सम्पत्ति का उपभोग दूसरों के साथ मिल कर करना चाहिये। वेद में परमात्मा उपदेश देते हैं कि "हे मनुष्यो ! तुम्हारे पीने

---

१. श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। तै. उ. ७. ११. १–४।

२. गामेकां दशगुर्दद्याद् दश दद्याच्च गोशती।
शतं सहस्रगुर्दद्यात् सहस्रं बहुगोधनः॥ महाभारत, अनुशासन-पर्व ११३. १२।
अर्थात् "दस गौओं वाला व्यक्ति एक गौ दान में दे, सौ गौवों वाला दस गौवें दान में दे, हजार गौवों वाला सौ गौवें दान में दे, और बहुत अधिक गौवों वाला व्यक्ति हजार गौवें दान में दे।" गोधन का दान तो उपलक्षण है। प्राचीन समय में गौ को बहुत कीमती धन समझा जाता था। श्लोक का भाव यह है कि मनुष्य को अपनी सम्पत्ति का दसवां भाग दान करते रहना चाहिये। शिवधर्म में लिखा है कि—"तस्मात् त्रिभागं वित्तस्य जीवनाय प्रकल्पयेत्, भागद्वयं तु धर्मार्थमनित्यं जीवितं यतः।" अर्थात् "मनुष्य को चाहिये कि वह अपने धन के पांच भाग कर ले, तीन भाग अपनी जीविका के लिये रख ले और दो भाग धर्म के कामों में दान कर दे, क्यों कि जिन्दगी सदा रहने वाली नहीं है।" इस श्लोक के अनुसार तो व्यक्ति को अपनी आमदनी का $\frac{2}{5}$ वां भाग दान में लगाना चाहिये।

के स्थान समान हों, तुम्हारा अन्न का सेवन मिल कर हो, मैं तुम्हें प्रेम के बन्धन में बांधता हूँ, तुम मिल कर प्रभु की उपासना करो और इस प्रकार मिल कर रहो जिस प्रकार रथ के पहिये की नाभि में अरे मिल कर रहते हैं[१]।" वेद के इसी प्रसङ्ग में परमात्मा पुनः कहते हैं--"हे मनुष्यो ! मैं तुम सब को मिल कर पदार्थों का सेवन करने के द्वारा मिल कर चलने वाले, समान मन वाले और एक समान भोजन करने वाले बनाता हूँ[२]।" वेद के इन उपदेशों में भगवान् की स्पष्ट आज्ञा है कि किसी भी राष्ट्र के लोगों को--और असल में तो सारी धरती के लोगों को--परस्पर प्रेम से मिल कर रहना चाहिये और अपने भोजन का तथा भोजन से उपलक्षित अपनी धन-सम्पत्ति का उपभोग स्वार्थी बन कर स्वयं अकेले ही नहीं करना चाहिये प्रत्युत सब के साथ मिल कर उस का उपभोग करना चाहिये। और इस प्रयोजन की पूर्ति के लिये हमें अपनी सम्पत्ति का दान करते रहना चाहिये। वेद में एक दूसरे स्थान पर कहा है--"जो व्यक्ति अकेला खाता है वह भोजन नहीं खाता, वह पाप खाता है[३]।" इस प्रकार वेद की सम्मति में भोजन और उस से उपलक्षित धन-सम्पत्ति का स्वार्थी बन कर स्वयं अकेले उपभोग करते रहना निरा पाप है। वेद-प्रतिपादित वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में वेद के इन सिद्धान्तों को स्वीकार करना आवश्यक है। जो लोग वेद के इन सिद्धान्तों को स्वीकार करेंगे और स्वार्थी बन कर अपनी धन-सम्पत्ति का अकेले उपभोग करने को पाप मानेंगे उन में लोभ और स्वार्थ पर आश्रित वे बुराइयें नहीं उत्पन्न होंगी जो पूंजीपतियों में हो जाती हैं। वे तो सम्पत्ति के अकेले उपभोग के पाप से बचने के लिये, वेद के दान-सम्बन्धी उपदेश को मान कर, सदा उस का दान करते रहेंगे जिस से सब के साथ मिल कर उस का उपभोग किया जा सके।

पांच यम और पांच नियम

वेद और तदनुकूल धर्मशास्त्रों में मनुष्य के चरित्र को ऊंचा, पवित्र और धर्मिष्ठ बनाने के लिये अनेक उपदेश दिये गये हैं और अनेक कर्तव्य बताये गये हैं। इन सब कर्तव्योपदेशों का सार और निचोड़ दस यम-नियमों में आ

---

१. समानी प्रपा सह वो अन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यंचोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥ अथर्व. ३. ३०. ६।
इस मन्त्र की और जिस सूक्त (अथर्व. ३. ३०) का यह मन्त्र है उस की विस्तृत व्याख्या हमारी पुस्तक "वेदोद्यान के चुने हुए फूल" में देखिये।

२. सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्। अथर्व. ३. ३०. ७।

३. केवलाघो भवति केवलादी। ऋग्. १०. ११७. ६।

जाता है। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये पांच नियम[1] कहलाते हैं। अपने मन और शरीर को तथा अपने चारों ओर की परिस्थितियों को स्वच्छ और निर्मल रखना "शौच" है। अपने जीवन को चलाने के लिये आवश्यक ज्ञान-विज्ञान और धन-सम्पत्ति आदि प्राप्त करने के लिये यथोचित परिश्रम करने के अनन्तर हमें जितनी भी सफलता मिल जाये उस पर सन्तुष्ट और प्रसन्न रहना "सन्तोष" है। सदा अपने कर्तव्य का पालन करने के लिये उद्यत रहना, कर्तव्य-पालन के मार्ग में जो कष्ट और विघ्न-बाधायें आयें उन से न घबरा कर उन को सहना और उन का सामना करना, कर्तव्य-पालन और उस में आने वाले कष्टों को सहने के योग्य अपने को बनाये रखने के लिये अपने जीवन को सादा, कष्ट-सहिष्णु, भोग-विलास और ऐशो-इशरत से दूर रहने वाला बना कर रखना तथा गरमी-सरदी, भूख-प्यास, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को सहने की आदत रखना "तप" है। सत्य और धर्म का उपदेश करने वाले तथा विद्या-विज्ञान की वृद्धि करने वाले वेद आदि अच्छे-अच्छे ग्रन्थों को पढ़ते रहना जिस से मन में सदा अच्छे विचार ही उत्पन्न हों, तथा अपना आत्मनिरीक्षण कर के बुरे विचारों और आदतों को छोड़ते रहना और अच्छे विचारों और आदतों को ग्रहण करते रहना "स्वाध्याय" है। ईश्वर की उपासना करना, अपने आपको ईश्वर के अर्पण कर देना, सब प्राणियों को ईश्वर की सन्तान और अत एव अपना भाई समझना और उन के कष्टों को दूर करने के लिये उद्यत रहना "ईश्वर-प्रणिधान" है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम[2] कहलाते हैं। मन, वचन और कर्म से किसी भी प्राणी को पीड़ा न देना और जो प्राणी कष्ट में पड़े हों उन के पास जा कर उन के कष्ट दूर करना "अहिंसा" है। मन से न्याययुक्त सही बात ही सोचना, वचन से न्याययुक्त सही बात ही कहना और कर्म से न्याययुक्त सही बात ही करना तथा मन, वचन और कर्म की एकता रखना अर्थात् जो सोचा है वही कहना और जो सोचा तथा कहा है वैसा ही करना "सत्य" है। अपने परिश्रम से जो धन-सम्पत्ति कमाई जाये केवल उसी का उपभोग करना, दूसरे की धन-सम्पत्ति को बिना उस की स्वीकृति और आज्ञा के कभी काम में न लाना तथा मन में लोभ के विचारों को उत्पन्न न होने देना "अस्तेय" है। अपनी जननेन्द्रिय को वश में रखना, सोच-समझ कर सन्तान उत्पन्न करने के अतिरिक्त कभी भी अपने वीर्य को शरीर से बाहर न होने देना, इस के लिये अपनी सभी इन्द्रियों को वश में रख कर अपने

---

१. **शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। योगदर्शन २. ३२।**

२. **तत्राहिंसा-सत्याऽस्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। योगदर्शन २. ३०।**

मन को वश में रखना––क्योंकि सभी इन्द्रियों और मन को वश में रखे बिना जननेन्द्रिय वश में नहीं हो सकती––और इस प्रकार मन में कभी शृङ्गार के विचारों और कामवासना को उत्पन्न न होने देना "ब्रह्मचर्य" है। धन-सम्पत्ति का संग्रह न करना, यथासम्भव कम-से-कम धन-सम्पत्ति और दूसरे दुनियावी सामान अपने पास रखना "अपरिग्रह" है।

ये दसों यम और नियम केवल साधु-सन्तों और योगी-महात्माओं के लिये ही नहीं हैं। वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के लिये इन का पालन करना आवश्यक है। मनुस्मृति[1] आदि धर्म-शास्त्रों में स्पष्ट लिखा है कि ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, राजा और प्रजा सब के लिये इन यम-नियमों का पालन करना आवश्यक है। वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में ये यम और नियम राष्ट्रवासियों के चरित्र का आवश्यक अंग माने गये हैं। वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में शिक्षा-संस्थाओं में इन के पालन पर विशेष बल दिया जाता है जिस से ये सभी राष्ट्रवासियों के चरित्र का अङ्ग बन सकें। इन दसों में भी नियमों की अपेक्षा यमों के––अहिंसा आदि पांच के––पालन पर विशेष बल दिया जाता है[2]। शास्त्रों में इन यम-नियमों की विस्तृत व्याख्यायें की गई हैं। इस युग में ऋषि दयानन्द ने भी इन पर भारी बल दिया है और सत्यार्थ-प्रकाश में वर्णित अपनी शिक्षा-पद्धति में इन का विशेष स्थान रखा है। महात्मा गाँधी जी ने तो इन पर बहुत ही बल दिया है और इन की बड़ी विस्तृत व्याख्यायें की हैं। हम ने अति संक्षिप्त शब्दों में यहां इन का भावार्थ दे दिया है। जो लोग इन यम और नियमों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करेंगे उन में वे बुराइयें पैदा नहीं हो सकतीं जो पूंजीवादी पद्धति में पलने वाले, भोग और विलास के पीछे पड़े रहने वाले, लोगों में उत्पन्न हो जाती हैं।

अपरिग्रह

ऊपर वर्णित पांच यमों में एक यम "अपरिग्रह" का है। यहाँ अपरिग्रह के अर्थ को थोड़ा विस्तार से समझ लेना चाहिये। यह शब्द संस्कृत के तीन पदों अ, परि और ग्रह से मिल कर बना है। ग्रह का अर्थ होता है चीजों को पकड़ कर अपने पास रखना। और परिग्रह का अर्थ होता है चारों ओर से,

---

१. अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीत्मनुः॥ मनु० १०. ६३।

२. यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥ मनु. ४. २०४।

Silence speaks

Have you ever heard the sound of silence-the music of the leaves playing with the wind, the sweet echoes made by the ripples of wind and the soft whispering of the soul.

Our daily enviornment is crowded with so much noise that very few people have had the blissful experience of silence. Infact most people tend to run away from it mistaking it for lonliness, depression or boredom. A person alone in a room increases the radio volume to hush away silence. Perhaps old people like silence only because their nerves are too weary of noise.

Where does silence reign............in nature and in our heart. To understand nature we don't talk with it but appreciate its beauty with our mind. Silence wakens in the atmosphere of a temple, samaj, mosque or a church. Here the blissfulness of silence speaks to you in shafts of devine peace.

The old saying goes "speech is silver silence is gold" with speach you only communicate thought whereas in silence you perceive and assimilate knowledge. Therefore silence is the greater giver and the seers of yore had greatly praised the virtue of "maun"

Unless you observe silence how can you hear the soul speak ? The soul tries to guide, to warn and to help you provided you give it the opportunity to speak. This is the voice of conscience which man constantly supresses. We are always in too great a hurry to heed its callings. But the one who follows the dictates of the conscience never falls astray. Know this to be God's light on earth to guide you at every step. Through silence alone does soul speak to soul, that atma communicates with paramatma, that atma ulitmately becomes one with Paramatma.................

Meditation Centre

Arya Samaj Mandir Marg

Meditation Timing
Daily 10 A.M. to 11
6 P.M.
Sunday 11 A.M.

मौन की भाषा

क्या आपने कभी मौन की ध्वनि सुनी है ? पत्तों से खेलती हुई पवन का संगीत, लहरों से छूती वायु की गुंजन, और आत्मा का कोमल व शान्त वार्तालाप।

हमारा प्रतिदिन का वातावरण इतना अशान्त है कि बहुत कम लोगों को मौन का पावन अनुभव हो पाता है। वास्तव में अधिकतर लोग इसे अकेलापन, उक्ताव पूर्ण व दुखान्त समझ कर इससे दूर भागने का प्रयत्न करते हैं। कमरे में बैठा व्यक्ति मौन से दूर होने के लिए रेडियो तेज कर देता है। शायद बूढ़े व्यक्ति इसलिए मौन पसन्द करते हैं क्योंकि उनके तन्तु शोर से बहुत थक चुके होते हैं।

मौन कहां रहता है·········प्रकृति में और हमारे हृदय में। प्रकृति को समझने के लिए हम प्रकृति से बात नहीं करते अपितु हृदय से उसकी सुन्दरता की प्रशंसा करते हैं। मंदिर समाज, मस्जिद या गिरजाघर के वातावरण में मौन जाग उठता है। यहां के अलौकिक वातावरण में आपका मौन से वार्तालाप होता है।

एक पुरानी कहावत है, "वाणी चांदी तुल्य है, मौन स्वर्ण तुल्य है"। वाणी द्वारा आप केवल विचारों का आदान प्रदान कर सकते हैं परन्तु मौन द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है जो मन व आत्मा से रचती है। इसलिए मौन की देन वाणी से अधिक है और ऋषियों ने मौन के गुणों की भूरी २ प्रशंसा की है।

जब तक आप मौन का अनुभव नहीं करते तब तक आप आत्मा की आवाज कैसे सुन पाओगे। आत्मा आपको राह दिखाना चाहती है, चेतावनी देना चाहती है और सहायता करना चाहती है, परन्तु कब ? जब आप उसे एक अवसर दें बोलने का यह अन्दर की आवाज है जिसे मनुष्य सारी आयु दबाता है। हम सदा इतनी जल्दी में होते हैं कि उसकी पुकार की ओर कोई ध्यान नहीं देते। परन्तु जो आत्मा के निर्देश का पालन करते हैं वह कभी भटकते नहीं। समझो कि यह परमात्मा का प्रकाश है जो हर कदम पर आपको राह दिखाता है। मौन द्वारा ही आत्मा, आत्मा से बात करती है। मौन द्वारा ही आत्मा परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित करती है। मौन द्वारा ही अंततः आत्मा का परमात्मा में विलय होता है।

ध्यान केन्द्र
आर्य समाज (अनारकली)
मन्दिर मार्ग नई दिल्ली।

हर रोज प्रातः १० से ११
ध्यान का समय सांयः ६ बजे
रविवार प्रातः ११ बजे

सब तरफ से, चीजों को पकड़ कर अपने पास रखना। इधर से भी बटोर, उधर से भी बटोर, जहां से बटोरा जा सके वहाँ से बटोर और जितना बटोरा जा सके उतना बटोर—इस मनोभावना के वश में हो कर चीज़ों के संग्रह का नाम परिग्रह है। परिग्रहशील व्यक्ति बहुत लालची हो जाता है। उस के पास जितना भी हो वह उसे थोड़ा लगता है। वह और-और अधिक संग्रह करना चाहता है। उस की आवश्यकतायें बहुत अधिक बढ़ जाती हैं। वह अपनी इन बढ़ी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये छटपटाता रहता है। और इस छटपटाहट के परिणाम-स्वरूप वह अपनी आवश्यकताओं के लिये किसी भी उपाय का अवलम्बन करने के लिये उद्यत हो जाता है। उसे सत्य-असत्य, न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म किसी की चिन्ता नहीं रहती। वह धोखा-धड़ी, झूठ-फरेब, अन्याय और अत्याचार का सहारा लेकर भी अपनी बढ़ी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के सामान जुटा लेना चाहता है। आज के पूंजीवादी लोग और पूंजीवाद की पद्धति पर चलने वाले राष्ट्र इसी प्रकार के परिग्रहशील व्यक्ति और राष्ट्र हैं। और उन की इस परिग्रहशीलता की वृत्ति के कारण आज के अधिकांश मनुष्यों को जो कष्ट, जो यन्त्रणायें और जो अशान्ति भोगनी पड़ रही है उसे हम सब जानते हैं। इस लेख के प्रारम्भ में उन की ओर कुछ संकेत भी किया गया है। "परिग्रह" का उलटा होता है "अपरिग्रह"। हम ने संसार की चीज़ों को अपने पास इकठ्ठा करने के पीछे पागल हो कर नहीं दौड़ना है। हम ने अपने पास सांसारिक धन-सम्पत्ति और सामग्री का बहुत कम संग्रह करना है। हम ने धन-सम्पत्ति और सामग्री का उतना ही संग्रह करना है जितना अपने कर्तव्य-कर्मों को ठीक से पूरा करते रहने के लिये नितान्त आवश्यक है। मैंने अपने लिये अपनी योग्यता और शक्ति के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में से जो वर्ण चुना है और मैं ब्रह्मचर्य आदि जिस आश्रम में हूँ, उस वर्ण और आश्रम के कर्तव्य-कर्मों को भली-भाँति पूरा करने के लिये जितनी सामग्री का होना नितान्त आवश्यक है उतनी ही सामग्री मुझे अपने पास संग्रह कर के रखनी चाहिये, न उस से कम और न उस से अधिक। भोग-विलास और ऐशो-इशरत की प्रवृत्ति के वश में हो कर हमें अपनी आवश्यकतायें बहुत अधिक नहीं बढ़ानी चाहियें और उन की पूर्ति के लिये छटपटाते नहीं रहना चाहिये। हमें अपनी आवश्यकतायें यथासम्भव कम-से-कम रखनी चाहियें जिस से हमें उन की पूर्ति के लिये अधिक-से-अधिक सामग्री संग्रह करने में पागल हो कर दौड़ने की आवश्यकता न पड़े। मैं जिस पद और जिस स्थान पर हूँ उस पद और उस स्थान के कर्तव्य-कर्मों को ठीक से पूरा करने के लिये जितनी सामग्री की मुझे आवश्यकता है उतनी ही सामग्री का संग्रह करना चाहिये। कम भी

नहीं और अधिक भी नहीं। सामग्री बिल्कुल ही न होने से मैं अपने कर्तव्यों को पूरा नहीं कर सकूंगा। और सामग्री का अधिक संग्रह करने की अवस्था में मैं भोग-विलास में फंस जाऊंगा और मुझ में लोभ-लालच की वृत्ति प्रबल हो जायगी। इस प्रकार सांसारिक चीज़ों के संग्रह के पीछे पागल हो कर न दौड़ते रहने तथा अपने कर्तव्यों को भली-भांति पूरा करने-भर के लिये आवश्यक कम-से-कम सामग्री के संग्रह करने का नाम "अपरिग्रह" है। हमारी प्रवृत्ति सदा कम-से-कम संग्रह की ओर रहनी चाहिये, अधिक संहग्र की ओर नहीं। यह "अपरिग्रह" का सिद्धान्त वर्णाश्रम-व्यवस्था के मुख्य सिद्धान्तों में से है। जो लोग इस प्रकार के अपरिग्रही रहेंगे वे धन-सम्पत्ति का संग्रह करने के लिये उस प्रकार के दूषित आचरण नहीं करेंगे जिस प्रकार के दूषित आचरण पूंजीवादी लोग करते हैं।

६
चार वर्ण और चार आश्रम

जीवन को सादा, तपस्वी और सच्चरित्र बनाने, धन-सम्पत्ति का बहुत संग्रह न करने, तथा धन-सम्पत्ति का जो थोड़ा-बहुत संग्रह किया भी जाये उस का भी परोपकार के लिये दान करते रहने-सम्बन्धी वेद-शास्त्रों के इन उपदेशों पर जोर देने के अतिरिक्त वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में धन के महत्त्व को एक और प्रकार से भी कम किया गया है। इस पद्धति में व्यक्ति के जीवन को चार आश्रमों में और सारे समाज को चार वर्णों में विभक्त कर दिया गया है। प्रत्येक व्यक्ति अपने चुने हुए वर्ण के और उस-उस आश्रम के नियमों और कर्तव्य-कर्मों का पालन करेगा। जो लोग "ब्राह्मण वर्ण" को अपने लिये चुनेंगे उन्हें अपना जीवन विविध प्रकार के ज्ञान-विज्ञानों की उन्नति, आविष्कार और प्रचार में तथा जनता को सत्य और धर्म का उपदेश देने में लगाना पड़ेगा। इन्हें सांसारिक धन-सम्पत्ति कमाने के पीछे नहीं पड़ना होगा। इन्हें त्याग और तपस्या का अत्यन्त सादगी का जीवन बिताना होगा। जनता या राज्य से मिलने वाली जीवन-निर्वाह के लिये न्यूनतम आवश्यक दक्षिणा पर इन्हें सन्तुष्ट रहना होगा। जो लोग "क्षत्रिय वर्ण" को अपने लिये चुनेंगे उन्हें अपना जीवन अन्याय-अत्याचार से जनता को बचाने तथा राष्ट्र की रक्षा में लगाना पड़ेगा। वे राष्ट्र के पुलिस, सेना और प्रबन्ध-सम्बन्धी (Adminis‌tative) विभागों में काम करेंगें। और जीवन-निर्वाह के लिये न्यूनतम आवश्यक जो दक्षिणा उन्हें राज्य की ओर से मिलेगी उसी पर उन्हें सन्तुष्ट रहना होगा। इन क्षत्रियों को भी धन-सम्पत्ति कमाने के पीछे नहीं पड़ना होगा। "शूद्र वर्ण" के लोग तो किसी

राष्ट्र में बहुत ही कम होंगे। क्योंकि विद्या-विज्ञान सीखने का खुला अवसर देने पर भी जो लोग कुछ न सीख सकें और इसी लिये कोई भी बुद्धि-चातुर्य का काम (Skilled labour) न कर सकें ऐसे बुद्धिहीन लोगों को शूद्र[1] कहते हैं। ये लोग शेष तीनों वर्णों की सेवा का ही काम कर सकते हैं। किसी भी सुव्यवस्थित राष्ट्र में ऐसे बुद्धिहीन शूद्र लोगों की संख्या अति न्यून रहेगी। ये शूद्र भी धन-सम्पत्ति कमाने का काम नहीं कर सकेंगे, क्योंकि उन में इस के लिये आवश्यक योग्यता ही नहीं होगी। और यदि किसी में धन-सम्पत्ति कमाने की योग्यता उत्पन्न हो गई तो वह शूद्र नहीं रहेगा, वैश्य बन जायेगा। रहे वैश्य। जो लोग "वैश्य वर्ण" का चुनाव अपने लिये करेंगे वे ही विविध प्रकार की धन-सम्पत्ति कमाने का काम कर सकेंगे। इस प्रकार चारों वर्णों के लोगों में से केवल वैश्यों का ध्यान विशेष रूप से धन-सम्पत्ति कमाने की ओर रहेगा।

अब लीजिये आश्रमों को। "ब्रह्मचर्य-आश्रम" विद्यार्थी-जीवन का आश्रम है। कम-से-कम २४ वर्ष की आयु तक बालक और १६ वर्ष की आयु तक बालिकायें, ब्रह्मचारी रहते हुए इस आश्रम में भांति-भांति के विद्या-विज्ञान सीखते हैं और अपनी रुचि और स्वाभाविक योग्यता के अनुसार ब्राह्मणादि वर्णों में से किसी एक वर्ण के योग्य अपने को बनाते हैं। यह तैयारी का आश्रम है। इस आश्रम में बालकों को अपने शरीर को स्वस्थ और बलवान् बनाना होता है, अपने मन को विविध प्रकार के विद्या-विज्ञानों से भरना होता है और आत्मा को सत्य, न्याय, दया, संयम, नियम-पालन आदि की उदात्त आत्मिक भावनाओं से युक्त करना होता है। इस आश्रम में बालक-बालिका क्रियात्मक रूप में धन-सम्पत्ति कमाने के कार्य से सर्वथा दूर रहते हैं। ब्रह्मचर्य के पश्चात् "गृहस्थ-आश्रम" में आ कर व्यक्ति को धन-सम्पत्ति कमाने का कार्य करना होता है। गृहस्थ-आश्रम में भी, जैसा अभी ऊपर कहा है, विविध प्रकार की धन-सम्पत्ति कमाने का काम वैश्य वर्ण के लोगों को ही करना होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र वर्ण के लोग गृहस्थ-आश्रम में भी धन-सम्पत्ति कमाने के पीछे नहीं पड़ेंगे। वे तो जनता या राज्य की ओर से जीवन-निर्वाह के लिये न्यूनतम आवश्यक जो दक्षिणा उन्हें मिलेगी उसी पर सन्तुष्ट रहेंगे। गृहस्थ-आश्रम के पश्चात् "वानप्रस्थ-आश्रम" आता है। पच्चीस-तीस वर्ष तक गृहस्थ का जीवन

१. ऋषि दयानन्द ने शूद्र का अर्थ इस प्रकार किया है—"जो विद्याहीन, जिसको पढ़ने से भी विद्या न आ सके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो वह शूद्र", (संस्कारविधि, गृहस्थाश्रम प्रकरण)। "जो मूर्खत्वादि गुण वाला हो वह शूद्र", (सत्यार्थप्रकाश,-चतुर्थ समुल्लास)।

व्यतीत कर के प्रत्येक व्यक्ति को वानप्रस्थ-आश्रम में जाना होता है। वानप्रस्थ-आश्रम में धन-सम्पत्ति कमाने का कार्य बन्द कर देना होता है। यह कार्य वान-प्रस्थ लोग अपनी सन्तान को सौंप आते हैं। वानप्रस्थ-आश्रम में व्यक्ति को ब्रह्मचर्याश्रम की भाँति ही त्याग, तपस्या और संयम का जीवन बिताना होता है। वानप्रस्थ लेकर व्यक्ति गुरुकुलों में चला जाता है और अपना समय वहाँ राष्ट्र के बच्चों को निःशुल्क शिक्षा देने में लगाता है तथा इस काम से बचे हुए समय को स्वाध्याय, चिन्तन और आत्मिक उन्नति में बिताता है। वान-प्रस्थ आश्रम के पश्चात् "संन्यास-आश्रम" है। यह आश्रम सब लोगों के लिये नहीं है। जो लोग पहले तीन आश्रमों में तैयारी कर के अपने को ब्राह्मण बना लेते हैं उन्हें ही संन्यास-आश्रम में जाने का अधिकार है। पहले तीन आश्रम सब वर्णों वालों के लिये हैं और संन्यास-आश्रम केवल ब्राह्मणों के लिये है। संन्यास-आश्रम में तो सांसारिक सभी चीज़ों का परित्याग कर दिया जाता है। इस आश्रम में व्यक्ति को पूर्ण त्यागी, तपस्वी, संयमी और निर्लेप हो कर प्राणी-मात्र का मित्र बन कर संसार के लोगों को सत्य और धर्म का उपदेश देते हुए विचरना होता है। इस आश्रम में धन-सम्पत्ति कमाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

इस प्रकार वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में केवल वैश्य वर्ण के लोग ही गृहस्थ-आश्रम में जा कर विविध प्रकार की धन-सम्पत्ति कमाने का कार्य करते हैं। वैश्यों को भी वानप्रस्थ में जा कर यह धन-सम्पत्ति कमाने का काम छोड़ देना होता है। शेष ब्राह्मणादि तीन वर्णों के लोग धन-सम्पत्ति कमाने के पीछे जाते ही नहीं। इन ब्राह्मणादि तीनों वर्णों के लोगों को गृहस्थ-आश्रम में जनता या राज्य की ओर से दक्षिणा के रूप में जो थोड़ी-बहुत धन-सम्पत्ति मिलती थी वानप्रस्थ-आश्रम में जा कर वे उसे कमाना भी बन्द कर देते हैं। ब्रह्मचर्य, वान-प्रस्थ और संन्यास आश्रमों में व्यक्ति अपनी आवश्तकताओं को न्यूनतम बना लेता है और गृहस्थ-जनता से मिलने वाली भिक्षा और दान पर अपना निर्वाह करता है। वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में ढल कर अपना जीवन बिताने वाले लोगों की धन के सम्बन्ध में मनोवृत्ति पूंजीवादी पद्धति में पलने वाले लोगों से सर्वथा भिन्न प्रकार की हो जाती है। वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में पला व्यक्ति सोचता है कि जब उसे ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में धन-सम्पत्ति से दूर रह कर त्याग, तपस्या और सादगी का जीवन बिताना है, जब उसे वैश्य वर्ण को अपने लिये चुन लेने की अवस्था में ही धन-सम्पत्ति कमाने के काम को करना है और वह भी गृहस्थ-आश्रम में ही करना है, जब वानप्रस्थ में जाने के समय उसे यह धन-सम्पत्ति कमाने का कार्य फिर छोड़

देना है, और जब गृहस्थ-आश्रम में भी अपने शास्त्रों की आज्ञा और उस आज्ञा का पालन करने के अपने व्रत के अनुसार अपनी सम्पत्ति का परोपकार में दान करते रहना है और यथासंभव अपरिग्रह का जीवन बिताना है, तब धन के लोभ और मोह-ममता में पड़ कर उसे कमाने के लिये असत्य, अन्याय और अधर्म का आसरा क्यों लिया जाये तथा धन को कमाने में सहायता करने वाले अपने नौकरों और मज़दूरों की योग्यता और श्रम को लूट कर उन पर अत्याचार क्यों किया जाये, क्यों न उन को अपना सहयोगी समझ कर उन के श्रम का यथोचित पारिश्रमिक उन्हें दिया जाय ? वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में ढला व्यक्ति इस प्रकार के विचारों वाला बन जाता है। और उस में वे दोष नहीं उत्पन्न होते जो पूंजीवादी पद्धति में पलने वाले व्यक्ति में हो जाते हैं।

इस प्रकार हम ने देखा कि वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में धन का महत्त्व बहुत कम कर दिया गया है। धन का महत्त्व कम हो जाने के कारण व्यक्ति उस के संग्रह के पीछे पागल हो कर नहीं पड़ता और उस के लिये सत्य, न्याय तथा धर्म का मार्ग छोड़ने के लिये उद्यत नहीं होता। धर्म-पूर्वक जितना धन कमाया जा सके उतना ही कमाता है और कमा कर उस का खर्च भी धर्म-पूर्वक ही करता है। पूंजीवादी पद्धति से वर्णाश्रम-व्यवस्था का यह बड़ा भारी भेद है।

वर्णों का चुनाव

वर्णाश्रम-व्यवस्था पर आधारित समाज-व्यवस्था के सम्बन्ध में आगे विचार करने से पहले हमें वर्णों का वास्तविक स्वरूप समझ लेना चाहिये। वर्ण शब्द "वृञ्" धातु से बनता है जिस का अर्थ वरण अर्थात् चुनाव करना होता है। इस लिये "वर्ण" पद का शब्दार्थ होता है—जिस का वरण किया जाये, जिसका चुनाव किया जाये[1]। ब्राह्मण आदि वर्ण इस लिये कहे जाते हैं कि व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार उन का वरण, चुनाव, करता है। संस्कृत में ब्रह्मचारी या विद्यार्थी के लिये एक शब्द "वर्णी" भी प्रयुक्त होता है। "वर्णी" का अर्थ होता है वर्ण वाला अर्थात् जिसने अपने लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों में से किसी एक को चुन रखा है। ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य-आश्रम में ब्राह्मण आदि में से किसी एक वर्ण को अपने लिये चुन लेता है और उस के योग्य अपने आप को बनाने की तैयारी करता है, जिस से गृहस्थ आश्रम में जा कर वह उस वर्ण के कर्त्तव्य-कर्मों का भली-भाँति पालन कर सके, इस लिये ब्रह्मचारी को "वर्णी" कहा जाता है।

---

१. वर्णो वृणोतेः। निरुक्त २. ३।

व्रत-ग्रहण-पूर्वक विद्याध्ययन

ब्रह्मचारी के लिये संस्कृत में एक और शब्द प्रयुक्त होता है। वह शब्द है "व्रती"। "व्रती" का शब्दार्थ होता है जिस ने व्रत अर्थात् प्रतिज्ञा (Pledge) ले रखी है। ब्रह्मचारी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य में से किसी एक वर्ण को अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार अपने लिये चुन लेता है, अपने को उस के योग्य बनाता है, और जीवन भर उस वर्ण के कर्तव्य-कर्मों को निभाने का व्रत लेता है, इस लिये वह "व्रती" कहलाता है। वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था में प्रत्येक विद्यार्थी को अपने अध्ययन-काल में ब्राह्मणादि में से किसी एक वर्ण का आवश्यक रूप से चुनाव करना होगा, उस के अनुकूल विद्या-विज्ञान सीख कर अपने को उस के योग्य बनाना होगा, और जीवन-भर उस वर्ण के कर्तव्य-कर्मों का पालन करने का व्रत (Pledge) लेना होगा[१]।

---

१. वैदिक मर्यादा में प्रत्येक व्यक्ति के सोलह संस्कार होते हैं। इन संस्कारों में से एक संस्कार उपनयन-संस्कार भी है। उपनयन-संस्कार ब्रह्मचारी रह कर विद्या पढ़ने के लिये गुरुकुल में जाने के समय किया जाता है। उपनयन के समय विद्यार्थी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य में से किसी एक वर्ण को चुन कर उस वर्ण के कर्तव्य-कर्मों के अनुकूल विद्या-विज्ञानों को पढ़ने का निश्चय करता है। उपनयन-संस्कार की मुख्य विधि तो तीनों वर्णों के लिये समान है। परन्तु दण्ड, मेखला, वस्त्र और यज्ञोपवीत की बनावट आदि अवान्तर बातों के विषय में तीनों वर्णों के लिये अलग-अलग विधान हैं। उपनयन-संस्कार दो वार होता है। एक तो गुरुकुल में जाने से पहले अपने माता-पिता के घर में और दूसरा आचार्य के पास जा कर गुरुकुल में (देखो सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास)। अपने घर में माता-पिता द्वारा बालक का उपनयन कराये जाने का अभिप्राय यह है कि बालक के माता-पिता स्वयं जिस वर्ण के हैं उन का बालक कम-से-कम उस वर्ण का तो बने ही, ऐसी आशा वे रखते हैं। फिर गुरुकुल में जा कर दूसरी वार उपनयन कराये जाने का भाव यह है कि बालक ने सोच-विचार कर स्वयं निश्चय कर लिया है कि वह किस वर्ण का ब्रह्मचारी बनना चाहता है। जब तक एक बालक स्वयं निश्चय न कर लेगा कि वह किस वर्ण का ब्रह्मचारी बनना चाहता है, तब तक गुरुकुल में आचार्य द्वारा उस का उपनयन नहीं होगा। वह यों ही गुरुकुल में रह कर पढ़ता रहेगा और अपने लिये वर्ण के चुनाव की तैयारी करता रहेगा। बालक द्वारा अपने वर्ण का निश्चित चुनाव कर लिये जाने पर आचार्य उस का उपनयन करेगा। ब्राह्मण बनना चाहने वाले बालक को पांच वर्ष की आयु से लेकर सोलह वर्ष की आयु तक अपने वर्ण का निश्चय कर लेना चाहिये। क्षत्रिय बनना चाहने वाले बालक को छठे वर्ष से लेकर बाईसवें वर्ष की आयु तक अपने वर्ण का निश्चय कर लेना चाहिये। और वैश्य बनना चाहने वाले बालक को आठवें वर्ष से लेकर चौबीसवें वर्ष की आयु तक अपने वर्ण का निश्चय कर लेना चाहिये। (मनु. २. ३६–३८)। जो ब्राह्मण

मनुष्य-समाज के तीन शत्रु : अभाव, अज्ञान और अन्याय

ब्राह्मण आदि में से किसी एक वर्ण को अपने लिये चुन कर उस के कर्तव्य-कर्मों को पालन करने का यह व्रत किस लिये लिया जाता है ? मनुष्य-समाज के तीन बड़े शत्रु हैं जिन के कारण मनुष्य पीड़ित रहते हैं । वे हैं—(१) अभाव, (२) अज्ञान, और (३) अन्याय ।

यदि राष्ट्र में लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक सामान उत्पन्न नहीं होता तो आवश्यक सामान के उस अभाव के कारण राष्ट्र के लोग पीड़ित रहेंगे । यदि राष्ट्र में अन्न नहीं पैदा होता है या कम पैदा होता है तो लोगों को भूख का कष्ट सहना पड़ेगा । यदि राष्ट्र में वस्त्र नहीं तैयार होते या कम तैयार होते हैं तो लोगों को नंगे रह कर ऋतुओं की कठोरता के कष्ट सहने पड़ेंगे । यदि राष्ट्र में मकानों की कमी है तो भी लोगों को ऋतुओं की कठो-रता के कष्ट सहने पड़ेंगे । यदि राष्ट्र में आवश्यक ओषधियें नहीं बनतीं तो उन के अभाव में लोगों को रोगों के कष्टों से पीड़ित रहना पड़ेगा । इसी प्रकार अन्य चीज़ों के अभाव में भी उस-उस प्रकार के कष्ट सहने पडेंगे । ये सब कष्ट "अभाव" के कष्ट हैं ।

राष्ट्र में प्राकृतिक सामग्री तो बहुत है पर लोगों को उस प्राकृतिक

नहीं बन सकता है वह क्षत्रिय बने तथा जो ब्राह्मण और क्षत्रिय में से कोई भी नहीं बन सकता वह वैश्य बने । जो इन तीनों में से किसी वर्ण की भी योग्यता प्राप्त करने के योग्य नहीं होगा वह जड-बुद्धि बालक शूद्र रह जायेगा । किसी घर में जन्म होने के कारण कोई व्यक्ति शूद्र नहीं होता है । अति मन्द-बुद्धि होने के कारण पढ़ने-लिखने की दिमागी योग्यता न होने से ही कोई व्यक्ति शूद्र बनता है । ब्राह्मण माता-पिता का बालक भी शूद्र हो सकता है और शूद्र माता-पिता का बालक भी ब्राह्मण बन सकता है। वर्ण-व्यवस्था जन्म पर निर्भर नहीं करती । वह गुण, कर्म और स्वभाव पर निर्भर करती है । इस सम्बन्ध में शास्त्रों के अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं । स्थानाभाव से यहाँ वैसा नहीं किया जा सकता । अति प्राचीन काल में वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्मानुसार ही होती थी । पौराणिक हिन्दुओं में जो जन्म पर आश्रित वर्ण-व्यवस्था मानी जाती है वह मध्य-युग में भ्रांति से चल पड़ी है। और भ्रांति पर आधारित इस जन्म की वर्ण-व्यवस्था से हिन्दुओं की उन्नति में बहुत बाधा पहुँचती रही है । अस्तु । उपनयन-संस्कार की जो व्यवस्था शास्त्रों में पाई जाती है उस का मर्माशय इतना ही है कि प्रत्येक बालक को अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार किसी-न-किसी वर्ण का चुनाव कर के तदनुकूल विद्या-ध्ययन और कर्तव्य-कर्म करने का व्रत लेना चाहिये । व्रत (Pledge) लेकर विद्या-ध्ययन करने-कराने का यह सिद्धान्त शिक्षा के क्षेत्र में वर्णाश्रम-व्यवस्था पद्धति की निराली देन है ।

सामग्री से अपनी आवश्यकता की भाँति-भाँति की चीजें बनाने का ज्ञान नहीं है, और इस लिये कष्ट में रहते हैं। यह कष्ट उन के अज्ञान के कारण है। अथवा चीजें तो हमारे पास हैं पर हमें उन से उपयोग लेना नहीं आता, हमें उन के उपयोग का ज्ञान नहीं है, तब भी हम पीड़ित रहेंगे। गेहूँ हमारे पास है पर हमें उस से भोजन बनाना नहीं आता तो इस अज्ञान के कारण हमें भूख से पीड़ित रहना पड़ेगा। तैयार भोजन भी हमारे पास है, पर हमें भोजन करने के नियमों का ज्ञान नहीं है। हम बार-बार खाते रहते हैं और भूख से ज्यादा खाते रहते हैं तो बदहज़्मी हो जायेगी और उस से उत्पन्न होने वाले रोग हमें लग जायेंगे। हमें इन रोगों का कष्ट भोगना पड़ेगा। इस प्रकार के कष्ट "अज्ञान" के कष्ट हैं।

हमें सामान तैयार करने का ज्ञान भी है, उस ज्ञान से हम ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक सामान भी तैयार कर लिया है, परन्तु कुछ अन्यायी और अत्याचारी लोग हमारे सामान को जबरदस्ती छीन कर ले जाते हैं तो उन के इस अन्याय के कारण भी हमें कष्ट में रहना पड़ेगा। हमें खेती करनी आती है, उस से हम ने अन्न भी खूब पैदा कर लिया है, अन्न से भोजन बनाना भी हमें आता है और भोजन करने के नियमों का भी हमें ज्ञान है। परन्तु कुछ अन्यायी लोग बल का प्रयोग कर के गांव के सारे लोगों का अन्न छीन कर ले जा जाते हैं। तो उन कुछ लोगों के अन्याय के कारण सारे गांव के लोगों को भूख का कष्ट सहना पड़ेगा। यह कष्ट अन्याय के कारण है। अन्याय बल का प्रयोग कर के ही नहीं किया जाता, चतुराई का प्रयोग कर के, भूठ बोल कर, धोखा दे कर, ठग कर भी किया जाता है। किसी प्रकार से हो, अन्याथी लोग अन्याय कर के लोगों को पीड़ित करते हैं। ये सब कष्ट "अन्याय" के कष्ट हैं।

ब्राह्मणों का व्रत

ब्राह्मण वे लोग हैं जो प्रजा के "अज्ञान" को दूर करने का "व्रत" ले लेते हैं। ये लोग सत्य के परिशोध में लगे रहते हैं। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाली सचाइयों का पता लगा कर विभिन्न प्रकार के विद्या-विज्ञानों का ये लोग आविष्कार करते हैं। और उस अपने विद्या-विज्ञान का ये लोग निःस्वार्थ भाव से प्रजा में प्रचार करते हैं, क्योंकि जनता के अज्ञान को दूर करना इन्होंने अपना धर्म बना रखा होता है। कोई ब्राह्मण अपनी रुचि के अनुसार किसी विद्या-विज्ञान के अध्ययन और अध्यापन में लग जाता है और कोई किसी के। भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार के विद्या-विज्ञानों का अध्ययन और अध्यापन इन का क्षेत्र रहता है। इस लिये धर्म के सच्चे रहस्य का पता लगाना

और उस का प्रचार करना भी ब्राह्मणों का कर्तव्य रहता है। ये लोग धर्म के तत्त्वों को स्वयं अपने जीवन में ढालते हैं और जनता में उन का प्रचार करते हैं। इन का जीवन पूर्ण सत्य-निष्ठ, संयमी, तपस्वी और सादा रहता है। ऊपर वर्णित यम और नियमों को अपने जीवन में ढालने का ये लोग विशेष रूप से प्रयत्न करते हैं। और इस प्रकार अपने जीवन को आदर्श बना कर ये लोग अपने जीवन और प्रचार द्वारा जनता के चारित्रिक स्तर को उन्नत करते रहते हैं। अपनी विद्या को ये लोग बेचते नहीं। विद्या-दान की कोई कीमत नहीं ठहराते। जो कोई श्रद्धा से जितना दे दे उसे ले लेते हैं। जो दक्षिणा दे सके उसे भी पढ़ाते हैं और जो न दे सके उसे भी पढ़ाते हैं। पढ़ाने में भेद नहीं करते। निष्काम भाव से सब को विद्या-दान करते हैं, क्योंकि विद्यादान करना इन के जीवन का व्रत और धर्म होता है। इस प्रकार जनता के भाँति-भाँति के अज्ञानों को दूर करने के लिये विविध विद्या-विज्ञानों की उन्नति, आविष्कार और प्रचार में लगे रहने का जो लोग व्रत ले लेते हैं और अपना सारा जीवन निष्काम भाव से इसी काम में खपा देते हैं उन्हें ब्राह्मण कहते हैं।

आर्य-शास्त्रों के अनुसार राज्य के न्यायालयों के न्यायाधीश और राज्य के मन्त्री भी ब्राह्मण लोगों को ही बनाया जायेगा। क्योंकि तप, त्याग, सादगी, सत्य और धर्म का जीवन बिताना ब्राह्मणों का विशेष 'व्रत' रहता है और क्योंकि धन-सम्पत्ति के संग्रह से ब्राह्मण लोग दूर रहते हैं, उन का जीवन विशेष रूप से "अपरिग्रह" का होता है, उन्होंने अपनी कोई ज़मीन-जायदाद नहीं बनानी होती है, इस लिये ब्राह्मण लोग निःस्वार्थ भाव से सही-सही न्याय करेंगे और निःस्वार्थ भाव से प्रजा के हित के लिये सही राजनीति बनायेंगे और उस का सही पालन करेंगे। इसी लिये न्यायाधीश और मन्त्री ब्राह्मणों को बनाया जाता है। आर्य लोगों में राज-मन्त्री का आदर्श ब्राह्मण चाणक्य का है जो कि भारतवर्ष के चक्रवर्ती सम्राट् का मन्त्री होते हुए भी स्वयं फूस की झोंपड़ी[1] में रहा करता था।

क्षत्रियों का व्रत

जो लोग "अन्याय" से प्रजा की रक्षा करने का 'व्रत' ले लेते हैं उन्हें क्षत्रिय कहा जाता है। ये लोग जहां अन्य विद्याओं का अध्ययन करेंगे वहाँ राजनीति और शस्त्रास्त्रों के बनाने और उन के चलाने की विद्याओं का विशेष

१. उपलशकलमेतद्भेदकं गोमयानां बटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तोम एषः।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभिरवनतपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम्॥
मुद्राराक्षस ३. १५।

अभ्यास करेंगे। अपने अन्दर शारीरिक बल को बढाने का भी ये लोग विशेष प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार अन्याय के विरुद्ध लड़ने के योग्य अपने को ये लोग बना लेंगे। ये क्षत्रिय लोग राज्य की पुलिस, सेना और प्रबन्ध-सम्बन्धी (Administrative) विभागों में, जहां वीरता और शारीरिक शक्ति की अपेक्षया अधिक आवश्यकता होती है, काम करेंगे। ब्राह्मण मन्त्रियों द्वारा निर्धारित नीतियों के अनुसार चल कर राज्य का शासन चलाना क्षत्रियों का काम होता है। राज्य-शासन का यह काम इस प्रकार किया जायेगा कि कोई किसी पर अन्याय न कर सके, कोई किसी को ठग न सके, कोई सबल किसी निर्बल को सता न सके। इस प्रकार अन्याय से प्रजा की रक्षा करना क्षत्रियों का 'व्रत' और धर्म होगा। क्षत्रिय लोग धन-सम्पत्ति कमाने के पीछे नहीं पडेंगे। राज्य द्वारा जो वेतन या दक्षिणा उन्हें मिलेगी उसी पर वे सन्तुष्ट रहेंगे। निष्काम भाव से प्रजा की रक्षा कर के अपने 'व्रत' का पालन करना ही उन का उद्देश्य होगा। और अपने इस व्रत के पालन में वे अपना रुधिर बहाने और सिर कटाने के लिये भी सहर्ष उद्यत रहेंगे।

वैश्यों का व्रत

जो लोग यह 'व्रत' ले लेंगे कि वे प्रजा को उन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक सामग्री के "अभाव" से कष्ट नहीं होने देंगे वे वैश्य कहलायेंगे। वैश्य लोग अन्य विद्याओं को पढ़ने के अतिरिक्त राष्ट्र की भौतिक सम्पत्ति (Material Wealth) को बढ़ाने वाली विद्याओं का विशेष रूप से अध्ययन करेंगे। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कोई वैश्य कृषि की विद्या सीखेगा, कोई पशु-पालन की विद्या सीखेगा, कोई व्यापार-विषयक विद्याओं को पढ़ेगा, कोई किसी प्रकार के उद्योग (Industry) सम्बन्धी विद्या को सीखेगा और कोई किसी प्रकार के, कोई किसी प्रकार के कला-कौशल (Arts and Crafts) से सम्बन्धित विद्या का अध्ययन करेगा और कोई किसी प्रकार के। ये लोग राष्ट्र के लोगों के जीवन में काम आने वाली भांति-भांति की चीजों का निर्माण करेंगे और व्यापार द्वारा उन चीजों को जनता तक पहुंचायेंगे। इस प्रकार भांति-भांति की चीजों का निर्माण और व्यापार कर के जनता के "अभाव" के कष्टों को दूर करना और राष्ट्र की भौतिक सम्पत्ति (Material Wealth) को बढ़ाना इन वैश्यों का 'व्रत' होगा।

राष्ट्र की भौतिक सम्पत्ति को बढाने का यह कार्य वैश्य लोग, निष्काम भाव से राष्ट्र की सेवा की भावना से अपना 'व्रत' और धर्म समझ कर करेंगे।

राष्ट्र के ब्राह्मणों ने निष्काम भाव से प्रजा में विद्या-विज्ञानों, सत्य, न्याय और धर्म के प्रचार का "व्रत" लिया है, क्षत्रियों ने निष्काम भाव से, अन्याय से प्रजा की रक्षा करने का "व्रत" लिया है, कोई ऊंची योग्यता न होने के कारण शूद्रों ने शेष तीनों वर्णों के लोगों की सेवा का "व्रत" लिया है। ब्राह्मण और क्षत्रिय धन-सम्पत्ति कमाने में अपना समय नहीं लगा सकते क्योंकि वैसा करने से राष्ट्र के लिये अत्यन्त उपयोगी उन कामों की हानि होगी जिन्हें वे कर रहे हैं। शूद्र में धन-सम्पत्ति कमाने की योग्यता ही नहीं है—वह तो सेवा ही कर सकता है। इस लिये वैश्य लोग यह 'व्रत' लेते हैं कि "अज्ञान" से राष्ट्र की रक्षा का व्रत लेने वाले ब्राह्मणों की, "अन्याय" से रक्षा का व्रत लेने वाले क्षत्रियों की, और सेवा का व्रत लेने वाले शूद्रों की, पालना का काम निष्काम भाव से हम करेंगे। अपने राष्ट्र के ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्रों को धन-सम्पत्ति के अभाव का कष्ट हम नहीं होने देंगे यह 'व्रत' वैश्य लोग लेते हैं। वैश्य लोग अपनी धन-सम्पत्ति से जहां अपनी पालना करते हैं वहाँ वे अपनी धन-सम्पत्ति से शेष ब्राह्मणादि तीनों वर्णों की भी पालना करते हैं।

केवल धन-सम्पत्ति कमा लेने वाले को वैश्य नहीं कहते। धन-सम्पत्ति तो बहुत सी डाकू भी इकट्ठी कर लेता है। वह वैश्य नहीं है। वह दस्यु है, दण्डनीय है। वैश्य वह है जो धर्म-पूर्वक धन-सम्पत्ति कमाता है और कमाई हुई सम्पत्ति को राष्ट्र के लोगों के भले के लिए खर्च कर देता है और ऐसा करना अपना 'व्रत' और धर्म समझता है। वर्णाश्रम-धर्म के रंग में रंगा हुआ वैश्य अपने नौकरों और मज़दूरों का पेट नहीं काटेगा, प्रत्युत उन्हें अधिक-से-अधिक वेतन देगा। क्योंकि वह तो अपने 'व्रत' के अनुसार कमाता ही एक प्रकार से उन के लिये है। सच्चा वैश्य राज्य को दिये जाने वाले करों (Taxes) को छिपायेगा नहीं, वह राज्य द्वारा लगाये गये सब करों को पूरा-पूरा देगा। क्योंकि वह जानता है कि उस के इन करों के धन से राष्ट्र के क्षत्रिय आदि की पालना हो रही है, और वह तो अपने 'व्रत' के अनुसार कमाता ही उन की पालना के लिये है। अपने नौकरों को अच्छा वेतन देने और राज्य के करों को चुकाने के बाद जो धन उस के पास बचा रहता है उस का भी वह दान करता रहता है। कहीं विद्यालय खुलवा देता है, कहीं औषधालय खुलवा देता है, कहीं कोई अनुसन्धानशाला खुलवा देता है और कहीं कोई अनाथालय। यदि कोई नई संस्था चलाने का सामर्थ्य अपने में नहीं है तो पहले से चल रही संस्थाओं को ही अधिक-से-अधिक सहायता देता है। अपने नगर के ब्रह्मचारियों की सहायता करता है, ब्राह्मणों की सहायता करता है। वानप्रस्थ और संन्यासी

लोगों की सहायता करता है। विधवाओं और अनाथों की सहायता करता है। क्योंकि वह तो अपने 'व्रत' के अनुसार कमाता ही इन सब की पालना के लिये है। वह जो कुछ कमाता है उस में उस का अपना हिस्सा तो बहुत थोड़ा होता है। उस का अधिक भाग तो राष्ट्र के लिये कमाया जाता है। जो लोग इस प्रकार "अभाव" के कष्टों से राष्ट्र के लोगों की रक्षा करने का 'व्रत' ले लेते हैं उन्हें वैश्य कहा जाता है।

सब वर्णों वाले अपने को राष्ट्र का न्यासरक्षक (ट्रस्टी) समझते हैं

इस प्रकार वर्णों का चुनाव कर के उन के कर्तव्य-कर्मों को जीवन भर पालन करने का 'व्रत' ले कर जो लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बनेंगे उन का अपना कुछ नहीं होगा। उन का सब कुछ राष्ट्र के लिये होगा। उन की ज्ञान, बल और धन की सब शक्ति राष्ट्र के भले में खर्च होगी। वे तो अपनी इन सब शक्तियों के साथ उस प्रकार का ममत्व रखेंगे जिस प्रकार का ममत्व किसी न्यास (ट्रस्ट = Trust) के न्यासरक्षकों (ट्रस्टियों = Trusties) का उस न्यास (ट्रस्ट) की सम्पत्ति के साथ होता है। वे अपने को एक प्रकार से न्यासरक्षक (ट्रस्टी) समझ कर ही अपनी इन सब शक्तियों को राष्ट्र के लोगों की भलाई में लगायेंगे। वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति के अनुसार इस प्रकार वर्णों की दीक्षा और व्रत लेने वाले लोगों में पूंजीवाद की पद्धति की कोई भी बुराई नहीं आ सकती।

शिक्षा के क्षेत्र में वर्णाश्रम-व्यवस्था का अनूठा सिद्धान्त

वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति शिक्षा के क्षेत्र में यह "वर्णों के चुनाव और व्रत" का एक अनूठा और अत्यन्त मूल्यवान् सिद्धान्त देती है। इस सिद्धान्त को क्रिया में लाने से ही संसार के कष्ट वास्तव में दूर हो सकते हैं। प्राचीन भारत में इस सिद्धान्त के अनुसार ही शिक्षणालयों में विद्यार्थियों को शिक्षा दी जाती थी। तभी भारत में "रामराज्य" रहता था। आज तो संसार के शिक्षा-शास्त्री इस सिद्धान्त को जानते तक नहीं।

७

वर्णों का शक्ति-सन्तुलन

पीछे हम ने कहा था कि आज की पूंजीवादी समाज-व्यवस्था में तो धन इतना "सर्वे-सर्वा" बना हुआ है कि सब कुछ धन से ही मिलता है। शारीरिक सुख-आराम तो धन से मिलते ही हैं, मान-प्रतिष्ठा भी धनियों की ही होती है, और, राज्य-शासन भी धनियों के ही हाथ में रहता है।

वर्ण-व्यवस्था की पद्धति में यह बात नहीं है। वहां ये तीनों चीजें धनियों के हाथ में नहीं रहने पायेंगी। उस पद्धति में "ब्राह्मण" लोगों को—उन लोगों को जो लोग त्यागी, तपस्वी, संयमी, और सत्यनिष्ठ रह कर विद्या-विज्ञानों, न्याय, सत्य और धर्म के प्रचार में लगे रहते हैं—मान-प्रतिष्ठा सब से अधिक मिलेगी। किसी भी सभा-समाज में, उत्सव-समारोह में, और राज-दरबार में सब से अगला और प्रतिष्ठित स्थान बैठने के लिये ब्राह्मणों को दिया जायेगा। ब्राह्मण के आ जाने पर राजा भी अपना आसन छोड़ कर खड़ा हो जायेगा और उस का अभिवादन और सत्कार करेगा। शास्त्रों में लिखा है कि सड़क पर राजा की सवारी जा रही हो, और सामने से कोई गुरुकुल से पढ़ कर निकला नया स्नातक, कोई श्रोत्रिय ब्राह्मण अथवा कोई संन्यासी, आ जाये तो राजा को एक तरफ खड़े हो कर उन के जाने के लिये मार्ग छोड़ देना होगा[1]। आज तो बेचारे स्कूल-मास्टरों को कोई भी प्रतिष्ठा नहीं देता। उन का वेतन कम होने के कारण उन्हें सन्मान के योग्य नहीं समझा जाता। उन्हें सब कहीं सब से पीछे की कतार में खड़ा होना पड़ता है। पर वर्णाश्रम-व्यवस्था में अध्यापक की, ब्राह्मण की, सब से अधिक प्रतिष्ठा है। धनी लोगों को तो जहां कहीं भी वे जायेंगे उन्हें ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बाद तीसरी पंक्ति में बैठने की जगह मिलेगी। राज्य के नियम इस प्रकार के रहेंगे।

यह जो ब्राह्मणों को मान-प्रतिष्ठा दी जाती है ब्राह्मणों को तो उस की भी इच्छा नहीं रहती। शास्त्रों में लिखा है कि ब्राह्मण को सन्मान से विष की तरह बच कर परे भागना चाहिये[2]। पर समाज अपने कल्याण के लिये ब्राह्मणों का सब से अधिक मान और सत्कार करता है। ब्राह्मण बनना बड़ा कठिन है। बहुत थोड़े लोग ब्राह्मण बनते हैं। ब्राह्मणों का मान और सत्कार होते देख कर नवयुवकों को ब्राह्मण बनने की इच्छा होगी। और उन के द्वारा राष्ट्र में विद्या-विज्ञान और धर्म का प्रचार हो कर समाज का कल्याण होगा। इस लिये समाज अपने भले के लिये ब्राह्मणों का सब से अधिक सत्कार करता है। इस के अभाव में आज तो यह अवस्था है कि कोई स्कूल-मास्टर नहीं बनना चाहता है, और कोई काम न मिलने पर स्कूल-मास्टर बन भी गये तो, धन कमाने का अवसर मिलते ही मास्टर लोग स्कूल की नौकरी छोड़ कर भाग जाते हैं।

---

१. मनु० २। १३५—१३९।

२. सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा॥ मनु० २. १६२।

वर्णाश्रम-व्यवस्था में राज्य-शासन की प्रभुता "क्षत्रियों" के हाथ में रहेगी। और ये क्षत्रिय लोग राजनीति के ज्ञाता ब्राह्मणों के निर्देश में चल कर अपनी इस प्रभुता का, अपनी इस शक्ति का, प्रयोग करेंगे। राज-सत्ता से मिलने वाली प्रभुता वैश्यों के हाथ में नहीं जाने दी जायेगी। क्षत्रियों को मान और प्रतिष्ठा ब्राह्मणों के पश्चात् दूसरी कोटि पर मिलेगी।

"वैश्य" लोगों को धन-सम्पत्ति से मिलने वाले सुख और आराम अन्य वर्णों से अधिक मिलेंगे। वैश्य लोग ब्राह्मणों से ज्ञान सीख कर और क्षत्रियों की रक्षा में रह कर राष्ट्र के लोगों के सुख-आराम की भौतिक सम्पत्ति को पैदा करते हैं। उन की भी यह बड़ी भारी सेवा है। इस लिये वैश्यों को यह अधिकार रहता है कि वे धन-सम्पत्ति से प्राप्त होने वाले सुख-आरामों को अन्य वर्ण वालों की अपेक्षा कुछ अधिक भोग लें। वे सांसारिक दृष्टि से अन्य वर्ण वालों की अपेक्षा कुछ अधिक आनन्द से रह लें। उन्हें मान-प्रतिष्ठा ब्राह्मण और क्षत्रियों के पश्चात् तीसरी कोटि पर प्राप्त होगी। पर वैश्य लोग अपनी धन-सम्पत्ति का अपने ही लिये निर्बाध उपयोग नहीं कर सकेंगे। राष्ट्र के लोगों के जीवन-निर्वाह के लिये न्यूनतम आवश्यक जो राशि होगी उस से एक निश्चित विशेष परिमाण में अधिक राशि का ही उपयोग वैश्य लोग कर सकेंगे। उस से अधिक सब सम्पत्ति पीछे दिखाई गई रीति से वैश्यों को राष्ट्र के उपयोग में लगा देनी होगी। इस प्रकार वर्णाश्रम-व्यवस्था में वैश्यों के, धनियों के, हाथ में मान-प्रतिष्ठा, राज्य-शासन और सम्पत्ति एक साथ ये सब न रह कर उन के पास केवल सम्पत्ति के आराम ही अन्य वर्णों के लोगों से अधिक रहेंगे।

इस प्रकार तीनों वर्णों की शक्ति का सामञ्जस्य (सन्तुलन) कर के वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में, पूंजीवाद के एक ही वर्ग के हाथ में सारी शक्तियें आ जाने के भारी दोष से, समाज की रक्षा कर ली गई है। एक वर्ग के हाथ में ज्ञान और प्रतिष्ठा की शक्ति है, एक वर्ग के हाथ में राज्य-शासन की, प्रभुता की, शक्ति है और एक वर्ग के हाथ में धन-सम्पत्ति की शक्ति है। और तीनों शक्तियों का परस्पर गहरा सहयोग और सामञ्जस्य है। तीनों वर्ग अपनी शक्तियों को परस्पर के कल्याण के लिये लगाने का 'व्रत' ले कर उस व्रत के अनुसार ही चलते हैं। सब सब को कुछ देते हैं और सब को सब से कुछ मिलता है। और इस प्रकार सारा राष्ट्र सुखी रहता है।

८

दुरुपयोग करने पर सम्पत्ति छीनी भी जा सकती है

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है। और वह यह कि यदि कोई वैश्य, कोई

धनपति, अपने "व्रत" का पालन न करे, अपनी सम्पत्ति का राष्ट्र के हित के कामों में खर्च न करे, अपने नौकरों और मज़दूरों को भी पर्याप्त वेतन न दे, राज्य के करों को भी पूरा अदा न करे, दान भी कुछ न दे, और अपने ही भोग-विलास में सारी सम्पत्ति खर्च करता रहे, तो इस प्रकार सम्पत्ति का दुरुपयोग करने वाले वैश्य का वर्णाश्रम-व्यवस्था में क्या उपाय है ? वर्णाश्रम-व्यवस्था का सिद्धान्त लोगों की सच्चरित्रता और सद्भावना पर निर्भर करता है, कोई सच्चरित्र व्यक्ति स्वेच्छा से अपने कर्तव्यों का पालन करता रहे तब तो ठीक है, पर यदि कोई व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन न करे तो उस का क्या प्रतिकार है ? और अधिकांश व्यक्ति स्वेच्छा से कर्तव्य का पालन करने वाले नहीं होते। वे दण्ड के भय से कर्तव्य का पालन करते हैं। यदि कोई वैश्य अथवा दूसरे वर्ण का भी कोई व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन न करे तो वर्णव्यवस्था में उस का क्या प्रतिविधान है ? वर्णव्यवस्था में इस का भी प्रतिविधान है। पहले तो, जैसा ऊपर कहा गया है, सब वर्णों के लोगों ने अपने-अपने वर्णों के कर्तव्यों के पालन करने का 'व्रत' लिया हुआ है। व्रत (Pledge) का बन्धन बड़ा भारी बन्धन होता है। व्रत में बंधा हुआ आदमी अपने जीवन का बलिदान दे कर मृत्यु का आलिंगन करने तक को उद्यत हो जाता है। इस लिये 'व्रत' के बन्धन में बंधा हुआ वैश्य अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग नहीं करेगा। और अन्य वर्णों वाले लोग भी अपने कर्तव्यों का ठीक पालन करेंगे। बहुत ही कम उदाहरण ऐसे होंगे जहां वैश्य लोग अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग करेंगे, अथवा दूसरे वर्णों के लोग अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करेंगे। फिर, जो लोग अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करेंगे उन्हें दण्डित करने की व्यवस्था भी वर्णाश्रम-व्यवस्था में है। वेद में कहा है—"जो व्यक्ति नहीं देता है सम्राट् उस से दिलवाता है[1]।" जो ब्राह्मण विद्या-दान नहीं करेगा या विद्या-दान करने में पक्षपात करेगा राजा उसे दण्ड देगा। जो क्षत्रिय, जो राज-कर्मचारी, न्याय पर नहीं चलेगा और प्रजा की रक्षा नहीं करेगा राजा उसे दण्ड देगा। इसी भाँति जो वैश्य अपनी सम्पत्ति को राष्ट्र के कल्याण के कामों में नहीं लगा रहा होगा राजा उस की सम्पत्ति को राष्ट्र के कल्याण के कामों में लगवायेगा। राजा उस की सम्पत्ति को छीन लेगा। इस भय के कारण कोई वैश्य अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग नहीं करेगा।

सम्पत्ति का अधिकार जन्म से नहीं सदुपयोग से

दुरुपयोग करने वाले की सम्पत्ति का छीन लिया जाना यह वर्णव्यवस्था

---

१. सम्राट् अदित्सन्तं दापयति ···। यजुः. ९. २४।

और पूंजीवाद में बड़ा भारी भेद है। पूंजीवादी पद्धति में किसी की सम्पत्ति छीनी नहीं जा सकती। जिस प्रकार पौराणिक हिन्दू लोग वर्णव्यवस्था को जन्म के आधार पर मानते हैं—यह मानते हैं कि ब्राह्मण का लड़का इस लिये ब्राह्मण कहलायेगा और ब्राह्मण के अधिकार पायेगा क्योंकि वह ब्राह्मण के घर में पैदा हुआ है और शूद्र का लड़का इस लिये शूद्र रहेगा क्योंकि वह शूद्र के घर में उत्पन्न हुआ है—उसी प्रकार पूंजीवादी पद्धति में सम्पत्ति पर अधिकार भी जन्म के आधार पर माना जाता है। जो जिस पिता के घर में उत्पन्न हुआ है उसका अपने उस पिता की सम्पत्ति पर अधिकार है। वह पिता की सम्पत्ति का अधिकारी इस लिये है कि वह उसका पुत्र है। पुत्र होने के कारण पिता की सम्पत्ति उस की है। और जो सम्पत्ति जिस की है उस पर उसका पूर्ण अधिकार है। वह उसका जिस प्रकार चाहे उपयोग कर सकता है। उस से उस की सम्पत्ति छीनी नहीं जा सकती। पूंजीवाद का यह एक सिद्धान्त है। वैदिक वर्णव्यवस्था इस सिद्धान्त को नहीं मानती। वैदिक वर्णव्यवस्था में जिस प्रकार वर्णों को जन्म के आधार पर न माना जा कर गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर माना जाता है, उसी प्रकार वैदिक वर्णव्यवस्था में सम्पत्ति का अधिकार भी जन्म के आधार पर न माना जा कर सदुपयोग के आधार पर माना जाता है। सम्पत्ति उस की है जो उस का सदुपयोग करे। जो सम्पत्ति का दुरुपयोग करेगा उस की सम्पत्ति को राजा छीन लेगा, यह वेद की स्पष्ट आज्ञा अभी ऊपर हमने देखी है।

सन्तानों का परिवर्तन

ऋषि दयानन्द तो, जो आधुनिक समय के वर्णाश्रम-व्यवस्था के सब से बड़े समर्थक और प्रचारक हैं, इस सम्बन्ध में और अधिक आगे जाते हैं। ऋषि दयानन्द ने अपने महान् ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में यह प्रतिपादन करते हुए कि वर्णव्यवस्था जन्म के आधार पर नहीं, गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर होती है, यह भी लिखा है कि गुण, कर्म, स्वभाव पर आधारित वर्णों में सन्तानों का परिवर्तन भी हो जाना चाहिये। अर्थात् यदि किसी ब्राह्मण के घर में गुण, कर्म, स्वभाव से वैश्य बालक उत्पन्न हो जाये और किसी वैश्य के घर में गुण, कर्म, स्वभाव से ब्राह्मण बालक पैदा हो जाये तो ब्राह्मण के वैश्य पुत्र को वैश्य की सन्तान बना दिया जाना चाहिये और वैश्य के ब्राह्मण पुत्र को ब्राह्मण की सन्तान बना दिया जाना चाहिये। इस प्रकार चारों ही वर्णों में गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर सन्तानों का परिवर्तन हो जाना चाहिये। राज-सभा और विद्या-सभा को इस प्रकार के नियम बना देने चाहियें। गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर वर्णों का निश्चय कन्याओं की अवस्था में १६ वर्ष की आयु में तथा

बालकों की अवस्था में २५ वर्ष की आयु में राजसभा और विद्यासभा की व्यवस्था के अनुसार हो जाना चाहिये। ऐसा ऋषि दयानन्द ने लिखा है।

ऋषि दयानन्द के इस सन्तान-परिवर्तन के सिद्धान्त के आधार में एक गहरा तत्त्व है। एक ब्राह्मण के घर में गुण, कर्म, स्वभाव से वैश्य बालक उत्पन्न हो गया और वह उसी की सन्तान रहा तो उस वैश्य बालक को अपने ब्राह्मण पिता का पढ़ने-लिखने का सामान, पुस्तकालय और, ब्राह्मण यदि वैज्ञानिक है तो, उस की परीक्षणशाला (Laboratory) तथा परीक्षणशाला के यन्त्र आदि सम्पत्ति के रूप में मिलेंगे। अब अपन ब्राह्मण पिता का यह सब सामान वैश्य बालक के किसी काम का नहीं है, वह उस से कुछ उपयोग नहीं ले सकेगा। उस के पास वह सब सामान खराब हो जायेगा। यदि वह सब सामान किसी ब्राह्मण बालक को मिल जाता तो वह उस की सहायता से विद्या-विज्ञान की और अधिक उन्नति करता और राष्ट्र को लाभ पहुँचाता। इसी प्रकार एक व्यापार या कारखाना चलाने वाले अथवा खेती करने वाले वैश्य के घर में गुण, कर्म, स्वभाव से ब्राह्मण बालक उत्पन्न हो गया और उसी की सन्तान रहा तो उस ब्राह्मण बालक को अपने वैश्य पिता की वह सम्पत्ति मिलेगी। पर इस ब्राह्मण बालक के लिये वह सब सम्पत्ति किसी काम की नहीं है। वह व्यापार नहीं कर सकेगा, कारखाना नहीं चला सकेगा और खेती भी नहीं कर सकेगा। यदि वह इन कामों को हाथ में लेगा भी तो अच्छी तरह नहीं कर सकेगा—उन्हें बिगाड़ देगा और घाटा उठायेगा। और राष्ट्र को जो उस व्यापार, कारखाने और खेती से लाभ होना था उस से राष्ट्र वञ्चित रह जायेगा। यदि किसी वैश्य बालक को यह सब कुछ मिल जाता तो वह उस को और अधिक उन्नत करता और उस से राष्ट्र को और अधिक लाभ मिलता। कम-से-कम पहले जितना लाभ तो राष्ट्र को मिलता ही रहता। ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तानुसार सन्तानों का परिवर्तन हो जाने की अवस्था में ब्राह्मण के घर में विद्या-विज्ञान की उन्नति का काम चलता रहता और वैश्य के घर में राष्ट्र की भौतिक सम्पत्ति की वृद्धि का काम चलता रहता, तथा दोनों को सेवा आदि के लिये सन्तान भी प्राप्त रहती।

सन्तान-परिवर्तन की ऋषि दयानन्द की यह बात सुन कर आज लोगों को अचम्भा सा लगता है। और इसे सर्वथा असम्भव समझा जाता है। इस में अचम्भित होने और इसे असम्भव समझने की कोई बात नहीं है। ऐसी सब बातें जनता की शिक्षा के ऊपर निर्भर करती हैं। शिक्षा और प्रचार के द्वारा जनता में किसी भी प्रकार की प्रथायें डाली जा सकती हैं। आज भी हम कन्याओं का तो परिवर्तन करते ही रहते हैं। हमारी कन्या विवाहित हो कर दूसरे के

घर में चली जाती है और वहाँ की बन जाती है। दूसरे की कन्या विवाहित हो कर हमारे घर में आ जाती है और हमारी बन जाती है। सभी सास और ससुर विवाह हो कर आई इन कन्याओं को अपनी पुत्री मानते हैं। आज भी दूसरे के बालक को दत्तक ले कर अपना पुत्र बना लेने की प्रथा है। कहते हैं बर्मा आदि कई देशों में विवाह होने पर लड़का उसी प्रकार अपनी वधू के घर में चला जाता है जिस प्रकार हमारे यहाँ विवाहित हो कर कन्या वर के घर में चली जाती है। दक्षिण भारत के अनेक प्रदेशों में कन्या के आधार पर वंश चलता है। ट्रावनकोर राज्य में राजगद्दी राजा की कन्या के पुत्र को मिला करती थी। इस प्रकार की सब प्रथायें जैसी चाहें वैसी चलाई जा सकती हैं। इसी प्रकार गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर सन्तान बदल ली जाने की ऋषि दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट पद्धति भी जनता में शिक्षा और प्रचार द्वारा चलाई जा सकती है।

पर हम ने तो यहां ऋषि दयानन्द के इस मन्तव्य का उल्लेख यह दिखाने के लिये किया है कि ऋषि दयानन्द की सम्मति में भी केवल जन्म के आधार पर सम्पत्ति पर अधिकार नहीं होना चाहिये। सम्पत्ति पर अधिकार उस के सदुपयोग के आधार पर होना चाहिये। सन्तान बदलने के सिद्धान्त में जन्म के आधार पर सम्पत्ति मिलने की बात तो जाती ही रहती है। उस में योग्यता और सदुपयोग के आधार पर सम्पत्ति मिलने की बात आ जाती है। यों भी जब सन्तान बदली जा सकती है तो सम्पत्ति तो बदली ही जा सकती है—सम्पत्ति तो एक से ले कर दूसरे को दी ही जा सकती है। इस प्रकार इस युग में वर्ण-व्यवस्था के महान् समर्थक और प्रचारक ऋषि दयानन्द भी दुरुपयोग की अवस्था में सम्पत्ति छीन लिये जाने के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। ऋषि दयानन्द भी सम्पत्ति के एकमात्र जन्माधिकार को नहीं स्वीकार करते। वे सम्पत्ति के अधिकार का आधार उस के सदुपयोग को मानते हैं। इस प्रकार वैदिक वर्ण-व्यवस्था में जो जिस सम्पत्ति का सदुपयोग कर सकेगा वह सम्पत्ति उस के पास रहनी चाहिये।

केवल श्रम से भी सम्पत्ति का अधिकार नहीं

सम्पत्ति के अधिकार का एक और आधार भी माना जाता है। वह आधार है श्रम। जिस ने श्रम कर के सम्पत्ति को पैदा किया है सम्पत्ति उसकी है। पूंजीवाद जन्माधिकार के साथ-साथ सम्पत्ति के श्रमाधिकार को भी मानता है। साम्यवादी (कम्युनिस्ट) लोग सम्पत्ति के जन्माधिकार को तो नहीं मानते, परन्तु श्रमाधिकार को मानते हैं। इसी लिये वे कहते हैं कि कारखानों और खेतों में पैदा होने वाली सम्पत्ति क्योंकि उन में काम करने वाले

मज़दूरों के परिश्रम से तैयार होती है इस लिये उस सम्पत्ति पर मज़दूरों का अधिकार होना चाहिये। कारखाने का पूंजीपति मालिक और ज़मींदार जो कि कारखाने और खेत में कुछ काम नहीं करते, उन का वहां पैदा होने वाली सम्पत्ति में कुछ अधिकार नहीं होना चाहिये। पर केवल श्रम के आधार पर संपत्ति का अधिकार मानने का सिद्धान्त भी ठीक नहीं है। एक व्यक्ति अपने परिश्रम से कमाई संपत्ति को सड़क पर रख कर फूंक देता है और अपने परिश्रम की कमाई से तैयार किये गये मकान को जला कर राख कर देता है तो क्या उसे ऐसा करने का अधिकार है ? यदि उसे यह अधिकार है तो क्या उस के अनुकरण पर राष्ट्र के सब लोगों को ऐसा करने दिया जायेगा ? क्या ऐसा करने वाले व्यक्ति को पागल नहीं समझा जायेगा और उसे किसी पागलखाने में नहीं भेज दिया जायेगा ? हमें अपने परिश्रम से कमाई सम्पत्ति के साथ भी मनमाना व्यवहार नहीं करने दिया जा सकता। यदि अपने परिश्रम से कमाई सम्पत्ति को भी हम किसी ऐसे कार्य में लगा रहे हैं जिस से राष्ट्र के लोगों को किसी-न-किसी रूप में कष्ट पहुंचता है अथवा राष्ट्र के सार्वजनिक हित की हानि होती है तो वह सम्पत्ति हम से छीन ली जायेगी। सम्पत्ति हमें चाहे अपने पिता से मिली हो और चाहे हम ने उसे अपने परिश्रम से उपार्जित किया हो, उस पर हमारा अधिकार तभी तक है जब तक हम उस का राष्ट्र के हित में सदुपयोग करते हैं। दुरुपयोग करने की अवस्था में सम्पत्ति छीन ली जायेगी।

सम्पत्ति का व्यक्तिगत स्वामित्व

पूंजीवादी पद्धति में सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व (Private Ownership of Property) के सिद्धान्त को माना जाता है। व्यक्ति को जो सम्पत्ति अपने पिता से उत्तराधिकार में मिली है वह भी उस की निजी सम्पत्ति है और जो सम्पत्ति उस ने अपने परिश्रम से कमाई है वह भी उस की निजी सम्पत्ति है। वह अपनी इस सारी सम्पत्ति को उत्तराधिकार में अपनी सन्तान को दे सकता है। फिर उत्तराधिकार में दी गई वह सम्पत्ति उस की सन्तान की निजी सम्पत्ति हो जायेगी। सम्पत्ति पर कमाने वाले का व्यक्तिगत स्वामित्व रहने से—उस की कमाई सम्पत्ति उसी की निजी सम्पत्ति बनी रहने से—एक भारी लाभ होता है। वह यह कि ममत्व के कारण—मैं कमा रहा हूं और यह मेरी है इस भावना के कारण—व्यक्ति सम्पत्ति को उत्पन्न करने में और उसे बढ़ाने में खूब परिश्रम करता है।

वर्णव्यवस्था की पद्धति में भी सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है। वेद में भाति-भांति की धन-सम्पत्ति

कमाने के लिये मनुष्यों को आदेश दिया गया है। अपना सुख-मंगल बढाने के लिये भगवान् से की जाने वाली वेद की प्रार्थनाओं में उपासक भांति-भांति की धन-सम्पत्ति की प्राप्ति की प्रार्थनायें भी वार-वार करता है। वेद का उपासक अपने परमात्मा और अपने राजा से यह प्रार्थना भी करता है कि "हम पिता से उत्तराधिकार में मिलने वाली धन-सम्पत्ति के स्वामी बनें[1]।" मनुष्यों को भांति-भांति की धन-सम्पत्ति कमाने-सम्बन्धी दिये गये वेद के इन आदेशों, और धन-सम्पत्ति-संबन्धी इन प्रार्थनाओं से यह स्पष्ट निर्देश निकलता है कि हमारी कमाई सम्पत्ति हमारी निजी है जिस का हम अपने जीवन-काल में तो उपयोग कर ही सकते हैं, किन्तु जिसे हम उत्तराधिकार में अपनी सन्तान को भी दे सकते हैं।

सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व पर प्रतिबन्ध

परन्तु वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में सम्पत्ति का यह व्यक्तिगत स्वामित्व निर्बाध और निष्प्रतिबन्ध नहीं है। पूंजीवाद में यह व्यक्तिगत स्वामित्व निर्बाध और निष्प्रतिबन्ध है। और इसके निर्बाध और निष्प्रतिबन्ध होने के कारण पूंजीवाद पर आधारित आज की समाज-व्यवस्था के वे सब बुरे परिणाम हो रहे हैं जिन की ओर इस लेख के आरम्भ में संकेत किया गया है। वर्णाश्रम-व्यवस्था में सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व पर कई तरह के प्रतिबन्ध हैं। इन प्रतिवन्धों का ऊपर के पृष्ठों में भली-भांति वर्णन कर दिया गया है। इन प्रतिबन्धों के कारण वर्णाश्रमधर्मी व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का कभी दुरुपयोग नहीं करेगा। वह अपनी सम्पत्ति को राष्ट्र के हित में ही खर्च करेगा। इन प्रतिबन्धों के कारण वर्णाश्रम-व्यवस्था में दिया गया सम्पत्ति के निजत्व का अधिकार उन बुराइयों का कारण नहीं बनेगा जिन बुराइयों का कारण पूंजीवाद में सम्पत्ति का निर्बाध और निष्प्रतिबन्ध निजत्व बन जाता है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था के आध्यात्मिक प्रतिबन्ध

वर्णाश्रम-व्यवस्था में सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व पर लगाये गये प्रतिबन्धों की एक विशेषता है। ये प्रतिबन्ध जहां सम्पत्ति के दुरुपयोग और उस की बुराइयों को रोकते हैं वहां ये प्रतिबन्ध ऐसे हैं जिन से व्यक्ति का आत्मा उन्नत होता है——वह श्रेष्ठ पुरुष बनता है। इन प्रतिबन्धों के परिणामस्वरूप व्यक्ति ऊँचा उठ कर स्वेच्छा से अपनी सम्पत्ति का प्रयोग और दान राष्ट्र की जनता के कल्याण के लिये करता है। और यदि कभी कोई व्यक्ति अपनी

१. ईशानासः पितृवित्तस्य रायः। ऋग्० १।७३।९।
रयिर्न यः पितृवित्तः। ऋग्० १।७३।१।

सम्पत्ति का दुरुपयोग करेगा तो, जैसा ऊपर कहा गया है, वेद की आज्ञा है कि उस की सम्पत्ति छीन ली जायेगी। सम्पत्ति छिन जाने के इस भय से किसी व्यक्ति को राष्ट्र के कल्याण में अपनी सम्पत्ति खर्च करने के "व्रत" को तोड़ने का साहस नहीं होगा। दुरुपयोग करने पर सम्पत्ति छिन जाने के दण्ड का यह भय सामान्य तौर पर अप्रत्यक्ष रूप में लोगों पर अपना प्रभाव रखेगा। यह भय लोगों के मन की पृष्ठभूमि में बहुत नीचे दबा पड़ा रहेगा। लोग प्रत्यक्षतः यही समझ कर अपनी सम्पत्ति को राष्ट्र के हित में खर्च करेंगे कि यह उन का "व्रत" और धर्म है। और इस प्रकार राष्ट्र के हित में अपनी सम्पत्ति का खर्च करते रहने से उन के आत्मा को एक ऊंचा आध्यात्मिक सन्तोष होगा कि वे अच्छा और पवित्र काम कर रहे हैं। प्रत्यक्ष रूप में तो यह दण्ड कभी-कभी किसी को देना पड़ेगा। जैसे चोरी पर दण्ड मिलने का कानून होने से लोग चोरी करने से रुके रहते हैं। प्रत्यक्ष में तो चोरी करने पर दण्ड कम लोगों को देना पड़ता है। अधिकांश लोगों के मनों पर तो दण्ड का यह भय अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालता है। यह भय उन के मन की पृष्ठभूमि में दबा पड़ा रहता है। प्रत्यक्षतः तो अधिकांश लोग यही समझ कर चोरी करने से बचे रहते हैं कि चोरी करना अच्छा काम नहीं है। और उन के आत्मा को सन्तोष रहता है कि वे चोरी से बचे रह कर अच्छा और पवित्र काम कर रहे हैं। इस प्रकार वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति व्यक्ति से उस की सम्पत्ति को राष्ट्र के हित में ले तो लेती है, पर इस पद्धति में व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को स्वयं प्रसन्नता से देता है और उसे देते हुए वह अपने आपको ऊंचा उठा हुआ और गौरवान्वित अनुभव करता है। इस दृष्टि से वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति आध्यात्मिक (Spiritual) पद्धति है।

साम्यवाद के भौतिक प्रतिबन्ध

साम्यवाद (Communism = कम्युनिज़्म) और उस की ही एक शाखा समाजवाद (Socialism = सोशलिज्म) भी सम्पत्ति पर प्रतिबन्ध लगाते हैं जिस से कि उस के द्वारा होने वाली बुराइयों और कष्टों से राष्ट्र की जनता बच सके। पर साम्यवाद और समाजवाद के प्रतिबन्ध केवल भौतिक हैं। वे केवल-मात्र कानून पर आधारित हैं। इन प्रतिबन्धों से व्यक्ति यह अनुभव करता है कि उस से उस की सम्पत्ति ज़बरदस्ती छीनी जा रही है। वह यह अनुभव करता है कि वह निर्बल है इस लिये उसे दबाया जा रहा है। उस की यह अनुभूति उस के आत्मा पर बुरा प्रभाव डालती है। वह एक प्रकार की उदासी, एक प्रकार की हीनता, एक प्रकार का मुरझायापन, अपने अन्दर अनु-

भव करता है। वह अन्दर-अन्दर असन्तुष्ट और खिन्न रहता है। वह उस की पसीने से कमाई सम्पत्ति छीन लेने वाले राज्यप्रबन्ध और समाज-व्यवस्था की निन्दा करता रहता है और उन्हें गालियें देता रहता है। उस का यह मानसिक असन्तोष, उस की यह मानसिक उदासी और खिन्नता, अपने राज्य-प्रबन्ध की निन्दा करते रहने वाली किन्तु कुछ कर सकने में अशक्त और भीरु उस की यह मनोदशा, उस के आत्मा को हीन बना देती हैं। उस का आत्म-सन्तोष और आत्म-गौरव जाता रहता है। साम्यवाद और समाजवाद की पद्धति केवल भौतिक है। उस का केवल भौतिक धन-सम्पत्ति पर ध्यान है, मनुष्य के आत्मा पर नहीं। इस दृष्टि से वर्णाश्रम-व्यवस्था की आध्यात्मिक (Spiritual) पद्धति, जिस में भौतिक धन-सम्पत्ति के साथ-साथ मनुष्य के आत्मा का भी ध्यान रखा जाता है, साम्यवाद और समाजवाद की भौतिक (Matirialistic) पद्धति से कहीं अधिक अच्छी है।

साम्यवाद सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व को स्वीकार नहीं करता

साम्यवाद सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व (Private Ownership of Property) को स्वीकार नहीं करता है। साम्यवाद में सम्पत्ति किसी व्यक्ति की न हो कर उस सारे समाज या राष्ट्र की है जिस का अंग वह व्यक्ति है। व्यक्ति समाज की उस सम्पत्ति में से केवल अपने जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक सम्पत्ति का उपभोग कर सकता है। जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक सम्पत्ति से अधिक सम्पत्ति को कोई व्यक्ति संग्रह कर के नहीं रख सकता और उस संग्रह की हुई सम्पत्ति को उत्तराधिकार में अपनी सन्तानों को भी नहीं दे सकता। उत्पत्ति के सब साधन, जमीन और कारखाने आदि, तथा उन से उत्पन्न होने वाली सारी सम्पत्ति राष्ट्र की है। व्यक्ति खेतों और कारखानों आदि में जो काम करता है वह इस लिये नहीं कि वे उस के अपने निजी हैं और उन से उस ने कोई अपनी निजी सम्पत्ति पैदा करनी है। वह खेतों और कारखानों आदि में राष्ट्र के नौकर या सेवक के रूप में काम करता है और उन में पैदा होने वाली सब सम्पत्ति राष्ट्र की है। राष्ट्र का सेवक होने के नाते व्यक्ति राष्ट्र की उस सम्पत्ति में से अपने जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक सम्पत्ति का उपभोग-भर कर सकता है। इसी लिये १९१७ की क्रान्ति के पश्चात् रूस में जब साम्य-वादी लोगों का शासन प्रारम्भ हुआ तो जहाँ उन्होंने यह व्यवस्था बना दी थी कि जमीन और कारखाने तथा अन्य उत्पत्ति के साधन किसी व्यक्ति के नहीं होंगे और उन से उत्पन्न संपत्ति भी किसी व्यक्ति की नहीं होगी––सारे राष्ट्र की होगी, वहां व्यक्तियों को आवश्यकता से अधिक संपत्ति-संग्रह के प्रलोभन से

रोकने के लिये उन्होंने यह व्यवस्था भी बना दी थी कि कोई बैंको में रुपया जमा कर के नहीं रख सकता और न कोई अपने जमा किये हुए रुपये को और न अन्य सामान को अपनी सन्तान को उत्तराधिकार में दे सकता है। इस प्रलोभन से रोकने के लिये शुरु में उन्होंने यह व्यवस्था भी बनाई थी कि किसी को नकद रुपये के रूप में वेतन ही न दिया जाये। किसी भी कर्मचारी को उस के काम के बदले में परचियें मिल जाती थीं। उन परचियों को दे कर व्यक्ति दुकानों से उन के बदले में अपने खाने-पीने आदि का आवश्यक सामान ले आता था। न किसी को नकद रुपया मिलेगा, न कोई उसे व्याज पर चढ़ा कर या किसी व्यापार आदि में लगा कर उस से कोई निजी लाभ उठा सकेगा या उस का कोई और दुरुपयोग कर सकेगा, और न कोई उसे बैंको में जमा कर सकेगा तथा अपनी सन्तानों को उत्तराधिकार में दे सकेगा। न होगा बांस और न बजेगी बांसरी। साम्यवादी लोगों का सम्पत्ति के निजाधिकार के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त है। उन के विचार में सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व को सर्वथा नष्ट किये विना पूंजीवाद के दोषों और हानियों से छुटकारा नहीं हो सकता।

व्यक्तिगत स्वामित्व के आधार में मनोवैज्ञानिक तथ्य : अहंकार और ममत्व

परन्तु इस विचार में एक कमी है। सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व के सिद्धान्त में एक मनोवैज्ञानिक सचाई को ध्यान में रखा गया है। वह है व्यक्ति की अहंकार और ममत्व की भावना से लाभ उठाना। प्रत्येक व्यक्ति में यह अहंकार और ममत्व की—यह "मैं और मेरा" की—भावना पाई जाती है और प्रबल रूप में पाई जाती है। इस भावना से प्रेरित हो कर व्यक्ति अपने लिये और जिसे अपना समझता है उस के लिये बड़े-से-बड़ा परिश्रम करने और बड़े-से-बड़ा कष्ट उठाने के लिये उद्यत हो जाता है। जब कोई व्यक्ति किसी काम को अपना समझ कर, उस से अपना लाभ होगा ऐसा समझ कर, करता है तो वह उसे सफल बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ता, दिन-रात एक कर देता है।

हम रोज देखते हैं कि जो लोग वेतन ले कर कोई काम करते हैं, जिन का वह काम अपना नहीं होता, वे लोग उस काम को सफल बनाने के लिये अपनी सारी शक्ति लगा कर दिन-रात एक नहीं कर देते। वे दफ़्तर के समय पर काम करने जाते हैं और दफ़्तर का समय हो जाने पर काम करना बन्द कर के अपने घर चले आते हैं। उस के आगे-पीछे उन्हें उस काम की कभी कोई चिन्ता नहीं होती। दफ़्तर के समय में जो कुछ घण्टे काम करने के हैं, बहुत से लोग तो उन में भी ईमानदारी से दिल लगा कर पूरा समय काम नहीं करते। गप-

शप में बहुत सा समय बिता देते हैं। इन लोगों में ममत्व की––अपनेपन की–– भावना न होने के कारण उस काम में उन का पूरा ध्यान और पूरी शक्ति नहीं लगती। परिणाम यह होता है कि काम कम होता है, समय अधिक लगता है, काम अच्छा नहीं होता और काम पर खर्च अधिक होता है। और यदि काम ऐसा है कि उस से किसी प्रकार की चीजों का निर्माण होता है तो चीजें कम मात्रा में बनती हैं, समय अधिक लगता है, चीजें घटिया किस्म की बनती हैं और उन पर खर्च अधिक बैठता है। फलतः राष्ट्र के लोगों की आवश्यकता-पूर्ति का सामान कम मात्रा में पैदा होता है, घटिया किस्म का पैदा होता है और अधिक महंगा पैदा होता है। इस प्रकार राष्ट्र के उपभोक्ताओं की आवश्यकतायें भी भली-भांति पूरी नहीं हो पातीं और सामूहिक रूप से राष्ट्र की वस्तु-सामग्री भी कम और घटिया रहती है जिस के फलस्वरूप राष्ट्र के अन्तरराष्ट्रिय व्यापार का पलड़ा भी घाटे का रहता है।

उधर रोज़ हम यह भी देखते हैं कि जो लोग किसी काम को अपना समझ कर, उस से अपना लाभ होगा ऐसा समझ कर, करते हैं वे उस काम को सफल बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ते, दिन-रात एक कर देते हैं। उन्हें सोते-जागते उस काम को सफल बनाने की चिन्ता रहती है। वे उस में अपने समय का एक-एक क्षण और अपनी शक्ति का एक-एक बूंद लगा देते हैं। ममत्व की इस भावना का परिणाम यह होता है कि काम अधिक होता है, कम समय में होता है, अधिक अच्छा होता है और कम खर्च में होता है। यदि उस काम से कोई चीजें निर्मित होती हैं तो वे अधिक संख्या में निर्मित होती हैं, अधिक अच्छी निर्मित होती हैं और कम खर्च में निर्मित होती हैं। फलतः राष्ट्र के लोगों की आवश्यकता-पूर्ति का सामान अधिक मात्रा में, बढ़िया और सस्ता उत्पन्न होता है। उस से राष्ट्र के उपभोक्ताओं की आवश्यकतायें भी भली भांति पूरी होती हैं और राष्ट्र की सामूहिक वस्तु-सामग्री भी अधिक और बढ़िया रहती है जिसके फलस्वरूप राष्ट्र के अन्तरराष्ट्रिय व्यापार का पलड़ा भी लाभ का रहता है। क्योंकि जिस राष्ट्र में भांति-भांति का सामान अधिक मात्रा में, बढ़िया और सस्ता बनता होगा उसी का दूसरे देशों के साथ व्यापार चमकेगा और लाभप्रद रहेगा।

वर्णाश्रम-व्यवस्था सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व को स्वीकार करती है

वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व के अधिकार को स्वीकार किया जाता है। व्यक्ति को किसी भी सम्पत्ति को अपनी समझ कर कमाने का अधिकार है। वह अपनी संगृहीत सम्पत्ति को

उत्तराधिकार में अपनी सन्तान को भी दे सकता है। वर्णाश्रम-व्यवस्था में अहंकार और ममत्व की इस मनोभावना से राष्ट्र के सामूहिक हित में लाभ उठा लिया गया है। सम्पत्ति मेरी है और मैं उसे अपने लिये कमा रहा हूं, इस भावना से प्रेरित हो कर व्यक्ति सम्पत्ति उत्पन्न करने में अपना सारा ध्यान, सारी योग्यता, और सारी शक्ति लगा देगा और उस के लिये दिन-रात एक कर देगा। इस का परिणाम यह होगा कि चीजें अधिक मात्रा में बनेंगी, अधिक बढ़िया बनेंगी, कम समय में बनेंगी जिस से उतने ही समय में और ज़्यादा चीज़ें बन सकेंगी, और सस्ती बनेंगी। इस से राष्ट्र के उपभोक्ताओं की आवश्यकतायें भी अधिक अच्छी तरह पूरी हो सकेंगी और सामूहिक रूप से भी राष्ट्र का वैभव बढ़ेगा।

व्यक्तिगत स्वामित्व के दोषों का प्रतीकार

किन्तु जैसा ऊपर बताया जा चुका है, वर्णाश्रम-व्यवस्था में संपत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व को मानते हुए भी उस पर कई प्रतिबन्ध लगा रखे हैं। उन प्रतिबन्धों में सब से बड़ा प्रतिबन्ध "व्रत" का प्रतिबन्ध है। संपत्ति कमाने वाला यह "व्रत" ले कर संपत्ति कमाने के लिये चलता है कि मैं अपनी कमाई सम्पत्ति को भिन्न-भिन्न प्रकार से राष्ट्र के हित के कामों में लगाता रहूँगा। यह "व्रत" उसे अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग नहीं करने देगा। वह संपत्ति को अपने भोग-विलास के लिये और उस के द्वारा दूसरों का उत्पीडन करने के लिये नहीं कमाता। वह तो अपने "व्रत" के कारण, एक प्रकार से राष्ट्र का ट्रस्टी बन कर, राष्ट्र के हित के लिये उस का भिन्न-भिन्न प्रकार से दान करने के लिये अपनी सम्पत्ति कमाता है। और राष्ट्र-हित के कामों में अपनी संपत्ति को इस प्रकार दान करने से उस की अहंकार और ममत्व की भावना की तृप्ति होती है। वह सोचता है--मैं कमा रहा हूँ और राष्ट्र के हित के लिये कमा रहा हूँ, मैं सम्पत्ति कमा कर अपनी उस सम्पत्ति को राष्ट्र-हित में लगा देता हूँ। उसे इस भावना से सम्पत्ति कमाने और उस का दान कर देने में एक ऊंची किस्म का आत्म-सन्तोष, एक आध्यात्मिक (Spiritual) प्रसन्नता और उत्फुल्लता, एक आत्मिक गौरव और ऊंचापन अनुभव होता है। इस में उस के अहंकार की तृप्ति होती है और वह तृप्ति सात्त्विक कोटि की होती है। जिस में एक ओर सात्त्विक अहंकार की तृप्ति भी हो रही है और दूसरी ओर राजस और तामस अहंकार को दबाया भी जा रहा है। इस प्रकार उस का यह "व्रत" का बन्धन उस से अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग ही करायेगा। और यदि कभी किसी सम्पत्ति कमाने वाले ने अपनी संपत्ति का दुरुपयोग किया तो, जैसा हम

पीछे देख चुके हैं, वेद की आज्ञा है कि उस की संपत्ति छीन ली जायेगी। दुरु-पयोग से संपत्ति छिन जाने का यह दूसरा बन्धन भी वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में है।

इस प्रकार वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था में व्यक्ति को संपत्ति का व्यक्तिगत स्वामित्व दे कर उस की अहंकार और ममत्व की भावना का राष्ट्र के हित में लाभ तो उठा लिया गया है पर उस पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगा कर उसे उन दोषों और हानियों से बचा लिया गया है जो पूंजीवाद में संपत्ति के निर्बाध और निष्प्रतिबन्ध व्यक्तिगत स्वामित्व में रहती हैं।

साम्यवाद मनोवैज्ञानिक तथ्य की उपेक्षा करता है

साम्यवाद में जो संपत्ति का व्यक्तिगत स्वामित्व स्वीकार नहीं किया जाता, और इसी लिये उस में जो सम्पत्ति की उत्पत्ति के साधनों को और सम्पत्ति को समाज का या राष्ट्र का बना दिया जाता है, और जो प्रत्येक व्यक्ति से उस की सम्पत्ति छीन ली जाती है, उस में एक यह भारी कमी है कि वहाँ व्यक्ति की अहंकार और ममत्व की वृत्ति से, जो कि एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है, लाभ नहीं उठाया जाता। साम्यवाद इस मनोवैज्ञानिक तथ्य की उपेक्षा करता है। अहंकार और ममत्व की वृत्ति का लाभ न उठाने के कारण, ऊपर प्रदर्शित रीति से, अन्ततोगत्वा राष्ट्र घाटे में रहता है। राष्ट्र भी घाटे में रहता है और व्यक्ति का आत्म-गौरव भी मारा जाता है। व्यक्ति स्वेच्छा से राष्ट्र के हित में अपनी शक्ति और सम्पत्ति का दान करने वाला स्वतन्त्र प्राणी न रह कर नौकर के रूप में दब कर काम करने वाला परतन्त्र प्राणी रह जाता है। जो व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग करता है उस का उस की सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व क्यों न रहने दिया जाये? जो अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग करे उस की सम्पत्ति छीन ली जानी चाहिये, जैसा कि वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में विधान है। साम्यवादी पद्धति का अवलम्बन कर के एक सिरे से अच्छे-बुरे सब की सम्पत्ति क्यों छीनी जाये? जो बुरे हैं उन की सम्पत्ति छीन लो जिस से चौकन्ने हो कर दूसरे लोग अच्छे रहें और अपनी संपत्ति का राष्ट्र के हित में उपयोग करें। अच्छों की भी संपत्ति क्यों छीनी जाये?

साम्यवाद का आदर्श रूस में भी ढीला हो गया है

संपत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व और अधिकार सर्वथा ही न रहने देने का यह साम्यवाद का आदर्शवाद रूस में भी अपने शुद्ध रूप में स्थिर न रह सका। प्रारम्भ में रूस में साम्यवादी लोग, जैसा ऊपर कहा गया है, किसी कर्मचारी को वेतन नहीं देते थे, उसे उस के काम के बदले में परचियें दी जाती

थीं जिन्हें स्टोरों (Stores) या दुकानों पर दे कर कर्मचारी उन के बदले में वहाँ से अपनी आवश्यकता का खाने-पीने, पहिनने आदि का सामान ले सकते थे। कोई व्यक्ति बैंक में रुपया जमा नहीं कर सकता था। राष्ट्र की सम्पत्ति पर सब का अधिकार बराबर समझा जाता था और प्रत्येक व्यक्ति परचियों के आधार पर राष्ट्र की सम्पत्ति में से अपनी आवश्यकता के अनुसार चीज़ें ले कर उन का उपयोग कर सकता था।

जब सब को बराबर काम करना है, किसी भी प्रकार का काम हो जब सब कामों की कीमत बराबर है, जब काम के बदले में सब को बराबर प्रतिफल मिलना है, और, जब किसी भी चीज पर किसी भी रूप में अपनापन नहीं रहना है, तो ऐसी अवस्था म व्यक्ति को अपनी सारी शक्ति लगा कर, मर-खप कर, दिन-रात एक कर के, काम करने की इच्छा नहीं होती। क्योंकि उस अवस्था में व्यक्ति अपनी कोई विशेषता नहीं अनुभव करता और उस का किसी काम में "ममत्व" नहीं रहता। जब उसे कोई काम बहुत अच्छा करने पर विशेषता नहीं मिलती और जब उस का किसी चीज़ पर किसी अंश में भी निजत्व नहीं रहता, तो वह कोई काम मर-खप कर क्यों करे और उस में अपनी सारी शक्ति क्यों लगाये ? कर्मचारियों में यह भावना पैदा होने का फल यह होता है कि काम अधिक नहीं होता और अच्छा नहीं होता—वस्तुओं का निर्माण अधिक मात्रा में नहीं होता और वस्तुयें उत्तम नहीं बनतीं।

रूस में भी यही हुआ। कर्मचारी आशा के अनुरूप काम नहीं करते थे। काम थोड़ा होता था और अच्छा नहीं होता था। वस्तुओं का निर्माण अधिक मात्रा में नहीं होता था और वस्तुयें बढ़िया नहीं बनती थीं। इस लिये रूस के साम्यवादी नेताओं को व्यवहार में अपने आदर्शवाद को कुछ ढीला करना पड़ा। उन्हें एक प्रकार से पूंजीवादी पद्धति के साथ बहुत कुछ समझौता करना पड़ा। उन्हें कर्मचारियों को वेतन देने की रीति फिर आरम्भ करनी पड़ी। वेतन भी कम और अधिक मात्रा में दिया जाने लगा। कम कुशल कर्मचारी को कम वेतन और अधिक कुशल कर्मचारी को अधिक वेतन दिया जाने लगा। अपेक्षया कम महत्त्वपूर्ण काम करने पर कम वेतन और अधिक महत्त्वपूर्ण काम करने पर अधिक वेतन मिलने लगा[१]। आज रूस में कर्मचारियों को मिलने वाले कम-से-कम वेतन और अधिक-से-अधिक वेतन की मात्रा में बड़ा अन्तर है। रूस में कम-से-कम और अधिक-से-अधिक आमदनी का अनुपात लगभग १ और ८०

१. Soviet Communism : A New Civilisation by Sidney and Beatrice Webb.

का है[१] । वहां मज़दूरों को सामान्यतया ४००--५०० रुबल वेतन दिया जाता है । उस की तुलना में बहुत विशेषज्ञ और बहुत महत्त्वपूर्ण काम करने वाले को ३० और ४० हज़ार रुबल तक भी वेतन दे दिया जाता है । इन दोनों सीमाओं के बीच में कर्मचारियो को उन की योग्यता और काम के महत्त्व के अनुसार मिलने वाले वेतनों की मात्रायें काफी भिन्नता रखती हैं । इतना ही नहीं, कर्मचारियों से अधिक काम कराने के लिये आज के रूस में कर्मचारियों से ठेके[२] पर भी काम करा लिया जाता है, जो कि विशुद्ध पूंजीवादी तरीका है । तथा, अच्छा और अधिक काम करने पर कर्मचारियों को इनाम भी दिया जाता है। और बोनस (लाभांश) भी दिया जाता है । रूस के लोग सरकारी बौंड (Bonds) भी खरीद सकते हैं जिन पर ७ और ८ प्रतिशत तक का व्याज बैंकों से मिलता है । अब वहां कर्मचारी अपने वेतन में से रुपया बचा कर बैंक में भी अपना हिसाब रख सकते हैं, जिस से वे अपने अभीष्ट समय पर अपने रुपये का अपनी इच्छानुसार उपयोग ले सकें । आज रूस की अर्थ-व्यवस्था बहुत अंश में लोभ और लाभ (Profit) के पूंजीवादी सिद्धान्त को अपना कर चल रही है[३] । अपने बचाये रुपये को उत्तराधिकार में देने की सुविधा भी वहाँ अब कर. दी गई है । यह अवश्य है कि रुपया अपनी इच्छानुसार केवल अपने सुख-आराम में, अपने बच्चों के सुख-आराम में तथा बच्चों को पढ़ाने-लिखाने आदि में ही खर्च किया जा सकता है । उस रुपये को सम्पत्ति के उत्पादन में नहीं लगाया जा सकता । इस प्रकार व्यवहार में साम्यवाद के आदर्श को ढीला कर के रूस के साम्यवादियों को कर्मचारियों की आमदनी में भिन्नता की तथा एक सीमित अंश में सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व और निजाधिकार की यह बात क्यों स्वीकार करनी पड़ी ? इस लिये कि साम्यवाद के आदर्श का पूर्ण पालन करने की अवस्था में उस में व्यक्ति के अहंभाव और ममत्व को कोई स्थान नहीं रहता । और अहंभाव और ममत्व के बिना कोई व्यक्ति किसी काम में अपनी पूरी शक्ति नहीं लगा सकता ।

अपने आदर्शवाद में रूस के साम्यवादियों द्वारा इस प्रकार की कुछ ढीलें बाधित हो कर करनी पड़ी हैं । यों अब भी रूस के सर्व-साधारण लोग अपने को सर्वथा स्वतन्त्र अनुभव करते हुए काम नहीं करते हैं । उन के द्वारा उत्पन्न की

१. Socialism Reconsidred by M. R. Masani.

२. Soviet Communism : A New Civilisation by Sidney and B. Webb.

३. Socialism Reconsidered by M. R. Masani.

गई सम्पत्ति उनकी नहीं होती है। वे कारखानों आदि के राज्य द्वारा नियुक्त प्रबन्धकों (मैनेजरों) के नौकर-मात्र होते हैं। इतना ही हुआ है कि उन्हें वेतन योग्यतानुसार कम-अधिक मिलने लगे हैं। तथा खर्च में बचे रुपये को बैंकों में रख सकने और अपनी सम्पत्ति को उत्तराधिकार में दे सकने आदि की कुछ सुविधायें भी मिलने लगी हैं।

वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में व्यक्ति के अहंभाव और ममत्व का ध्यान रख कर उस का पूरा लाभ उठाया जाता है। इस दृष्टि से भी वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति साम्यवाद के आदर्शवाद से अधिक श्रेष्ठ और उपयोगी है।

प्रतिस्पर्धा का तत्त्व

सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व के सिद्धान्त के आधार पर जब सम्पत्ति कमाई जाती है तो उस में एक और तत्त्व प्रविष्ट हो जाता है। वह तत्त्व है प्रतिस्पर्धा (Competetion) का। प्रत्येक कमाने वाला दूसरों से अधिक सम्पत्ति कमाना चाहता है। और इस के लिये वह घोर परिश्रम करता है। इस प्रतिस्पर्धा की भावना का भी परिणाम यही होता है कि व्यक्ति सम्पत्ति पैदा करने में अपना सारा समय और सारी शक्ति लगा देता है क्योंकि वह औरों से आगे बढ़ जाना चाहता है। फलतः काम अधिक होता है, अच्छा होता है, कम समय में होता है और कम खर्च में होता है। जो चीजें बनती हैं वे मात्रा में अधिक बनती हैं, उत्तम बनती हैं, कम व्यय में बनती हैं और अत एव सस्ती रहती हैं। परिणाम-स्वरूप ऐसे व्यक्ति के माल की अपेक्षया अधिक मांग रहती है। और वह सम्पत्ति कमाने के क्षेत्र में औरों से, जो उस जितना परिश्रम नहीं करते, आगे बढ़ने लगता है। वस्तुयें मात्रा में अधिक और उत्तम तथा सस्ती होने के कारण राष्ट्र के उपभोक्ताओं की आवश्यकतायें भी अच्छी तरह पूरी होती हैं और राष्ट्र की सामूहिक सम्पत्ति की भी वृद्धि होती है। वर्णाश्रम-व्यवस्था में इस प्रतिस्पर्धा की भावना की पूर्ति का भी स्थान है और उस से भी राष्ट्र के हित में लाभ उठाया जाता है। परन्तु वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति की सम्पत्ति कमाने की यह प्रतिस्पर्धा पूंजीवादी प्रतिस्पर्धा की भांति भोग-विलास की पूर्ति और दूसरों के उत्पीडन के काम में नहीं आती। वर्णाश्रम-व्यवस्था के रंग में रंगा हुआ वैश्य-व्यवसायी राष्ट्र की जनता के हित में अपनी सम्पत्ति को दान कर देने, लगा देने, का "व्रत" ले कर सम्पत्ति कमाने निकलता है। उस की प्रतिस्पर्धा इस लिये होती है कि अधिक-से-अधिक सम्पत्ति कमा कर उसे राष्ट्र के हित के कामों में दान किया जाये, खर्च किया जाये। वह तो एक प्रकार से राष्ट्र का न्यासरक्षक (ट्रस्टी =

Trusty) हो कर राष्ट्र के हित की दृष्टि से—राष्ट्र के लोगों को सुख पहुंचाने की दृष्टि से—सम्पत्ति कमाने की प्रतिस्पर्धा में पड़ता है। वर्णाश्रम-व्यवस्था की स्वस्थ प्रतिस्पर्धा (Healthy Competetion) से राष्ट्र को जो लाभ मिल सकता है साम्यवाद उस से भी वंचित रह जाता है।

९

व्यक्तियों में योग्यता और रुचियों का भेद

वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति इस बात को भी खुले रूप में स्वीकार करती है कि सब मनुष्य अपनी रुचियों, योग्यता, परिश्रम करने की शक्ति और स्वभाव आदि की दृष्टि से समान नहीं होते। किसी की रुचि कैसी होती है और किसी की कैसी, किसी में किसी प्रकार की योग्यता होती है और किसी में किसी प्रकार की, एक प्रकार की योग्यता में भी किसी में कम योग्यता होती है और किसी में अधिक, कोई कम परिश्रम कर सकता है और कोई अधिक, तथा किसी का स्वभाव किसी प्रकार का होता है और किसी का किसी प्रकार का। वेद में इसी बात को ध्यान में रख कर कहा है—"मनुष्य के दोनों हाथ देखने में एक समान होते हैं तो भी उन में काम करने की शक्ति एक-समान नहीं होती, एक ही मां की दो बच्छियें एक-जितना दूध नहीं देतीं, दो जोड़िये भाइयों में एक-जैसा बल और पराक्रम नहीं होता, एक ही वंश के दो व्यक्ति एक-जैसे उदार नहीं होते और अत एव एक-जितना दान नहीं करते[1]।" एक दूसरे स्थान पर वेद कहता है—"हे उषा ! तुम भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले जीवधारियों को अपने-अपने काम-धन्धे देखने-भालने के लिये रात्रि के पीछे अन्धकार से बाहर कर देती हो, किसी को क्षत्रिय के यशस्वी काम करने के लिये, किसी को ब्राह्मण के यज्ञादि के काम करने के लिये, किसी को धन कमाने के, वैश्य के, काम करने के लिये और किसी को चल-फिर कर शूद्र के काम करने के लिये[2]।" इस प्रकार वेद की सम्मति में मनुष्यों की रुचियें, योग्यता, परिश्रम करने की शक्ति और स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं।

हमें व्यक्ति की रुचि, योग्यता, काम करने की शक्ति और स्वभाव आदि को ध्यान में रख कर ही उसे कोई काम देना चाहिये और उसी के अनुसार उसे उस के परिश्रम का प्रतिफल मिलना चाहिये। साम्यवाद में

---

१. समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सं मातराचिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः॥ ऋग् १०. ११७. ९।

२. क्षत्राय त्वं श्रवसे त्वं महीया इष्टये त्वमर्थमिव त्वमित्यै।
वि सदृशा जीविताभिप्रचक्षे उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा॥ ऋग्. १. ११३. ६।